# मुस्लिम देश भक्त

लेखक
रतनलाल बंसल फ़ीरोज़ाबादी

सेक्रेट्री, हिन्दुस्तानी कलचर सोसाइटी,
४८, बाई का बाग़ इलाहाबाद

पहली बार १९४९
क़ीमत एक रुपया बारह आने

छापने वाला—
देश सेवा प्रेस, इलाहाबाद

# कहाँ क्या ?

# देखिए

किताब का नाम देख कर जब मै अटका तो हो सकता है, मेरी तरह और भी अटकें। देश भगत के पीछे हिन्दू मुस्लिम का पुछल्ला क्यों। देश भगत तो सचमुच हिन्दू मुस्लिमपने से बहुत ऊँचा उठा हुआ होता है। देश भगत होने के लिए ईश्वर भगत होना ज़रूरी है और ईश्वर भगत हिन्दू मुसलमान में भेद क्यों करेगा और वह .खुद इस भेद की कीचड़ में क्यों फँसेगा। नास्तिक या मुनकिर समझे जानेवाले आदमी भी सच्चे देश भगत हो सकते हैं। पर ऐसे आदमी तो ईश्वर भगत से एक हाथ बढ़ कर ईमानदार होते हैं। हम नास्तिक दो तरह के मानते हैं। एक को हम नास्तिक-नास्तिक और दूसरे को नास्तिक कहते हैं। नास्तिक-नास्तिक तो हम उसे मानते हैं जो सचमुच न ईश्वर को मानता है, न .खुदा का क़ायल है, न परलोक में विश्वास रखता है और न इनसानियत का ही पुजारी होता है। वह तो देश भगत हो ही नहीं सकता। हाँ किसी मतलब के लिए देश भक्ती का नाटक खेल सकता है। नास्तिक हम उसे कहते हैं जो दिखाने के लिए न मस्जिद से ग़रज़ रखता है न मन्दिर से मतलब। उसे न नमाज़ से कुछ लेना न पूजा को कुछ देना। न .कुरान की तिलावत न वेद का पाठ। वह तो सिर से पांव तक इनसानियत में डूबा हुआ होता है या यूँ समझिये कि उसके अंदर का .खुदा उसमें जाग गया होता है। दो शब्दों में भीतर भीतर जिसके राम वह है नास्तिक और जिसके बाहर राम वह लोगों की नजरों में आस्तिक। पर जिसके भीतर भी राम और बाहर भी राम उसे हम कहते हैं आस्तिक-आस्तिक। जिन देश भगतों की ज़िन्दगी आपको इस किताब में मिलेगी, वह भीतर भी .खुदा परस्त थे और बाहर भी यानी आस्तिक-

आस्तिक थे। उन्हें ग़ुलामी बरदाश्त न थी। वह ख़ूब समझते थे कि हिन्दुस्तान के अकेले मुसलमान की आज़ादी इतनी ही बेमानी बात है जैसे किसी आदमी के आधे जिस्म की आज़ादी। इसलिए उनकी कोशिशें किसी एक फ़िरक़े के लिए न थीं और न हो सकती थीं। यह हो सकता है कि उन्होंने अपनी आसानी के ख़ियाल से हिन्दुस्तान की आज़ादी के लिए किसी एक फ़िरक़े को ही औज़ार या हथियार बनाया हो। हाँ तो फिर ऐसे देश भगतों के लिए मुस्लिम या हिन्दू नाम से पुकारना कानों को अच्छा नहीं लगता। पर हिन्दुस्तान की अबतक की हवा और आज-तक की हवा, मजबूर करती है कि किताब का नाम मुस्लिम देश भगत ही रहे। न सिर्फ़ इस वजह से कि इस में उन देश भगतों का हाल है, जिन्होंने मुसलमान घराने में जनम लिया था, न इस वजह से कि वह दीन इस्लाम के क़ायल थे, बल्कि इस वजह से कि मुसलमानों की बहुत बड़ी तादाद यह जानती ही नहीं कि वह अपनों में से कितनों को देश भक्ती की वेदी पर क़ुरबान कर चुकी है। और न हिन्दूओं को ही यह पता है कि मुसलमानों में कैसे कैसे होनहार, जवान और कैसे कैसे क़ाबिल वजूद देश भक्ती की बलि वेदी पर निछावर हो चुके हैं।

इस किताब को पढ़ कर हिन्दू और मुसलमान दोनों ही ऐसा महसूस करेंगे मानो वह हिन्दुस्तान की तारीख़ को एक नए और अनोखे रूप में पढ़ रहे हैं। हो सकता है इस किताब को पढ़ते पढ़ते मुसलमानों की छातियां फूल उठें और हिन्दूओं के दिल से मुसलमानों के लिए ओछेपन का भरा हुआ ग़ुबार आंखों की राह पानी बन कर निकल जाए।

हमारा दिल तो यही कहता है कि यह किताब हिन्दू मुसलमानों को पास लाने में बड़ी मदद करेगी और दोनों के दिल धो कर एक दूसरे पर भरोसा पैदा करने में बड़ी मदद साबित होगी। यह किताब समय के लिए

तो ज़रूरी है ही पर हमेशा भी ज़रूरी बने रहने की क़ाबलियत रखती है। देश भक्तों की ज़िंदगियाँ अमर हुआ करती हैं।

पढ़िये और फिर पढ़िये, और समझ लीजिए कि बात वैसी नहीं थी जैसी आप अब तक समझे हुए थे। ग़ुलामी के कांटे की हर दिल में एक सी चुभन होती है। उस चुभन को दूर करने की एक सी कोशिश होती है और आज़ादी के अमृत की मिठास हर गले को एक सी ही लगा करती है।

अब आप आज़ादी के छप्पर तले हैं। इस जानकारी में आपको लुत्फ़ ही आयगा कि इस छप्पर के ऊपर तक पहुँचने में किन किन के हाथ लगे थे।

नई दिल्ली
५-१-४६

भगवान दीन

---

# हज़रत शाह वलीउल्लाह

हमारे मुल्क में हिन्दू और मुसलमानों के आपसी मनमुटाव से मुल्क के जहाँ और बहुत से नुक़सान हुए वहां एक यह भी हुआ कि बहुत से ऐसे सन्त महात्मा और वलीअल्लाह जिन्होंने बिना किसी भेदभाव के पूरे हिन्दुस्तान को ऊँचा उठाने और उसे तरक़्क़ी देने की कोशिशें कीं, सिर्फ़ इस लिये भुला दिये गए कि वह इस या उस मज़हब के थे। बहुत से ऐसे लोग, जिनकी बताई हुई राह पर चलकर सारा देश आगे बढ़ सकता था, बहुत से बहुत एक मज़हबी लीडर बन कर रह गए।

अठारवीं सदी के मुसलमान दरवेश शाह वलीउल्लाह भी हमारे मुल्क की एक ऐसी ही ज़बरदस्त हस्ती थे। उन्होंने न सिर्फ़ अपने ज़माने के गिरते हुए इख़लाक़ और बिगड़ते हुए चाल चलन को ही ऊँचा उठाने की कोशिश की, बल्कि उस ज़माने की राजनीति में भी बहुत बड़ा हिस्सा लिया। विदेशी क़ौमों के बढ़ते हुए ख़ौफ़नाक पंजों से हिन्दुस्तान को बचाने के लिये वह ज़िन्दगी भर लड़ते रहे और अपने वारिसों, बेटों, नातियों और हज़ारों शागिर्दों के दिल में ऐसी आग छोड़ गए कि उन्होंने मर जाना पसन्द किया, पर हिन्दुस्तान की ग़ुलामी को चुपचाप बर्दाश्त नहीं किया। आइये, आज जब कि हमारे मुल्क की सदियों से सोई हुई क़िस्मत कुछ करवटें लेने लगी है और आसमान

पर उमीदों के सितारों की चमक कुछ-कुछ नज़र आने लगी है, हम अपने इस बुज़ुर्ग की पाक ज़िन्दगी पर एक सरसरी निगाह डालें।

## शाह साहब की पैदायश

सत्रहवीं सदी के आख़िर के उस इन्क़लाबी दौर में, जब कि औरंगज़ेब की हुकूमत के ख़िलाफ़ जगह-जगह बग़ावतें हो रही थीं, देहली के एक मशहूर दरवेश घराने में चार शव्वाल सन् ग्यारह सौ चौदह हिजरी यानी सन् १७०२ ई० के क़रीब बुध के दिन शाह वलीउल्लाह का जन्म हुआ। आपके पिता का नाम शाह अब्दुलरहीम था। शाह अब्दुलरहीम बहुत बड़े आलिम सूफ़ी थे। यह वह ज़माना था जब शाही दरबार में मौलवियों का बोलबाला था। शाह अब्दुल रहीम अगर चाहते तो शाही दरबार में ऊँचा रुतबा हासिल कर सकते थे, पर उन्होंने इसे अपनी फ़क़ीरी शान के ख़िलाफ़ समझा और हमेशा शाही मदद के साये से भी बचते रहे। यही वजह थी कि उन्होंने जब भी ज़रूरत समझी निडर होकर बादशाह के बुरे कामों को बुरा कहा और हुकूमत की भूलों को साफ़-साफ़ दिखाया।

शाह अब्दुलरहीम औरंगज़ेब की निजी नेकचलनी, परहेज़गारी और सादा ज़िन्दगी के क़ायल थे, पर इस बात से उन्हें बड़ी तकलीफ़ होती थी कि कुछ कट्टर मौलवियों के कहने पर हुकूमत की तरफ़ से हिन्दुओं और शियों को सिर्फ़ इसलिये सताया जाता था कि वह हिन्दू या शिया हैं। उनके ख़याल से यह बात इसलाम की नसीहतों और इसलामी क़ानून के ख़िलाफ़ थी। साथ ही उन्हें डर था कि इस तरह हुकूमत के पाये कमज़ोर पड़ जावेंगे, मुल्क में झगड़े खड़े हो जावेंगे और हिन्दुस्तान की तरक्क़ी रुक जायगी। औरंगज़ेब की हुकूमत के उस दौर में जब कि मुग़ल सलतनत का सूरज पूरे चढ़ाव पर था, शाह

अब्दुलरहीम साहब ने आने वाले ख़तरों को सही सही पहिचान लिया था।

शाह वलीउल्लाह को मज़हबी तअस्सुब से ऊपर उठ कर सोचने और समझने की आदत अपने पिता से मिली। पांच साल की उम्र में वह अपने पिता के मकतब में बैठे। सात साल की उम्र तक क़ुरान शरीफ़ पूरा किया। इसके बाद तीन साल तक वह अरबी की मशहूर किताब "शरह मुल्ला जामी" पढ़ते रहे और फिर चौदह साल की उम्र तक इसलामी फ़लसफ़े की और किताबों को गहराई से पढ़ा। चौदह साल की उम्र में शाह वलीउल्लाह की शादी हो गई। एक साल बाद अपने पिता की शागिर्दी में वह 'सलूक' यानी योग अभ्यास और दिल की सफ़ाई की कोशिशों में लग गए। अभी दो साल ही बीते थे कि शाह अब्दुलरहीम चल बसे। उस छोटी सी उम्र में ही अपने पिता की गद्दी संभाल कर शाह वलीउल्लाह ने अपने मदर्से में पढ़ाना शुरू कर दिया।

इसके बाद शाह वलीउल्लाह ने अपने मुल्क की हालत पर नज़र डाली। उन्होंने देखा कि कुछ साल पहले उनके पिता ने हुकूमत के रंग ढंग को देख कर जो होनहार बताई थी वह सच साबित हो रही थी। मुल्क में जगह-जगह बलवे खड़े हो गए थे। हिन्दुस्तान की वह एकता जिसे अकबर बड़ी कोशिशों से बना पाया था ख़तरे में थी। औरंगज़ेब दुनिया से सिधार चुका था। उसके उठते ही बहुत सी आज़ाद हुकूमतें सूबे सूबे में बन गईं थीं। शाह वलीउल्लाह ने यह भी देखा कि मुल्क के इन आपसी झगड़ों से अंगरेज़ और फ़ासीसी अपना मतलब साधने की कोशिशें कर रहे थे और खुले आम इस मुल्क की हुकूमत में हिस्सा लेने लगे थे।

हालत बहुत नाज़ुक थी। मुल्क का हर सरदार राजा या नवाब अपनी ही बढ़ौती की फ़िक्र में था। मुल्क की किसी को भी परवाह नहीं

थी। अपने थोड़े से फ़ायदे के लिये इनमें से हरेक कोई भी काम करने के लिये तैयार था। राजधानी देहली में दिन रात साज़िशें चलती रहती थीं और क़त्ल, फांसियों और लम्बी सज़ाओं का सिलसिला जारी हो गया था।

शाह वलीउल्लाह कुछ दिनों इस हालत पर विचार करते रहे। इसके बाद दूसरे मुल्कों का हाल जानने के लिये वह हज के वास्ते मक्का गए। वहां दो साल रहे। ज़माने की हालत पर बड़े बड़े आलिमों से बहस की। उस ज़माने के मशहूर आलिम शेख़ अबूताहिर से एक अर्से तक तालीम हासिल की। बाद को हिन्दुस्तान वापस आ गए।

यहां आकर उन्होंने अपने ख़याल फैलाने शुरू किए। उनकी राय में उस ज़माने की इन तमाम बुराइयों की जड़ में दो ख़ास बातें थीं—

( १ ) यह कि हिन्दू या मुसलमान दोनों मज़हब के लोगों में वह सच्चा मज़हबी जज़्बा न रह गया था जो इनसान को इनसान बनाए रखता है। उलटे उनमें एक तरह की लामज़हबी या नास्तिकता पैदा हो गई थी जिससे वह अपने या अपने घराने के निजी फ़ायदे नुक़सान को ही देख सकते थे और समाज या मुल्क का बड़ा से बड़ा फ़ायदा अपने निजी फ़ायदे के ऊपर क़ुर्बान कर सकते थे।

( २ ) यह कि ऊपर के अमीर उमरा रईसों और सरदारों ने नीचे के लोगों पर अपनी ऐश आराम की ज़िन्दगी का इतना बड़ा बोझ लाद दिया था कि वह यानी देस के आम लोग हैवानों की सी ज़िन्दगी बिताने पर मजबूर हो गए थे। शाह साहब अपनी एक किताब "हुज्जतुल्लाहिल बालिग़ा।" में लिखते हैं—

"अगर किसी क़ौम में धन दौलत की लगातार तरक़्क़ी जारी रहे, तो उसकी सनअतो हिरफ़त ( कला कौशल ) आला कमाल पर पहुँच जाती है। उसके बाद अगर हकूमत करने वाली जमात आराम और आसाइश और ज़ीनतो तफ़ाख़ुर ( सज धज और घमंड ) की ज़िन्दगी

को अपना मामूल बना ले तो उसका बोझ क़ौम के कारीगर तबक़ात (श्रेणियों) पर इतना बढ जावेगा कि सोसाइटी का बड़ा हिस्सा हैवानों जैसी ज़िन्दगी बसर करने पर मजबूर हो जावेगा। इन्सानियत के इज्तमाई इख़लाक़ (सामूहिक सदाचार) उस वक़्त बरबाद हो जाते हैं जब किसी जब्र से उनको इक़्तसादी (माली) तंगी पर मजबूर कर दिया जाय। उस वक़्त लोग गधों और बैलों की तरह सिर्फ़ रोटी कमाने के लिये काम करेंगे और जब इन्सानियत पर ऐसी मुसीबत आती है तो ख़ुदा इन्सानियत को इस मुसीबत से निजात (छुटकारा) दिलाने के लिये कोई रास्ता ज़रूर इलहाम करता (सुझाता) है, यानी ज़रूरी है कि क़ुदरते इलाहिया (ईश्वरी शक्ति) इनक़लाब के सामान पैदा करके क़ौम के सर से उस बेजा हुकूमत का बोझ उतार दे।"

इन जुमलों को पढते वक़्त यह याद रखना चाहिये कि तब तक यूरोप में न कार्लमार्क्स पैदा हुआ था और न सोशलिज़्म (समाजवाद) की कोई तहरीक चली थी।

शाह वलीउल्लाह चाहते थे कि आम लोग आगे बढ़ें और हिन्दुस्तान में एक जमहूरी (जनता की) हुकूमत क़ायम की जाय। एक जगह उन्होंने लिखा है कि—"सलतनत का शीराज़ा बिखर चुका है (जोड़ ढीले हो चुके हैं) और मुग़लिया सलतनत में क़ैसरो कसरा (ईरान और रोम के सम्राटों) की सी ख़राबियाँ पैदा हो गई हैं। इस-लिये मस्लेहत ख़ुदावन्दी (ईश्वर की इच्छा) यही है कि इस निजाम को सिरे से तोड़ दिया जाय।"

## क़ुरान शरीफ का तरजुमा

आम लोगों में सच्ची मज़हबी ज़िन्दगी लाने के लिये शाह साहब ने क़ुरान शरीफ़ का तरजुमा करना शुरू किया। उस ज़माने में पढ़े लिखे मुसलमान अरबी की निस्बत फ़ारसी बहुत ज़्यादह जानते थे।

दूसरे मजहबों के लोग भी फ़ारसी बहुत पढ़ते थे। शाह साहब चाहते थे कि फ़ारसी तरजुमे के ज़रिये .कुरान का असली सन्देश आम लोगों तक पहुँचा दें।

जब से .कुरान शरीफ़ इस दुनिया को मिला, तब से यह पहला मौक़ा था कि उसका तरजुमा एक दूसरी ज़बान में किया जा रहा था। यह काम एक ऐसा इनक़लाबी काम था, जिसने मुसलमानों में एक हलचल पैदा कर दी। बहुत से मुल्लाओं ने इसकी मुख़ालफ़त की। लेकिन शाह साहब ने कोई परवाह नहीं की और अपने मदरसे में बराबर अपने इसी तरजुमे को पढ़ाते रहे। अपने तरजुमे में उन्होंने .कुरान की आयतों की तशरीह (व्याख्या) करते हुए भी पुराने मुल्लाओं की राय के ख़िलाफ़ बड़े-बड़े इनक़लाबी और नये माइने किये।

## क़त्ल की साज़िश

हुकूमत को यह बात मालूम हो चुकी थी कि शाह वलीउल्लाह मुल्क में एक सियासी इनक़लाब कराना चाहते हैं। एक दिन शाम को जब शाह साहब अपने थोड़े से शागिर्दों के साथ दिल्ली की मसजिद फ़तहपुरी में नमाज़ पढ़ रहे थे, कुछ लोगों ने आकर उन्हें घेर लिया। शाह साहब ने दूसरे दरवाज़े से निकल जाना चाहा। जब उस दरवाज़े को भी घिरा हुआ पाया, तो उन्होंने पूछा कि आख़िर आप लोग क्यों मेरे .खून के प्यासे हैं? जवाब मिला कि हम मौलवी हैं, तुमने यह तरजुमा लिख कर हमारी रोटी और इज़्ज़त दोनों पर और .खुद .कुरान पर हमला किया है। शाह साहब ने उन्हें समझाने की कोशिश की। जब वह न माने तो उनके शागिर्दों ने भी तलवारें खींच लीं और किसी तरह शाह साहब की जान बच गई।

बाद में मालूम हुआ कि यह हमला हकूमत की साज़िश से हुआ था, क्योंकि शाह साहब की नसीहतों और उपदेशों में हुकूमत को अपनी मौत नज़र आने लगी थी।

## शाह साहब की और किताबें

इस तरजुमे के बाद शाह वलीउल्लाह ने क़रीब तीस किताबें और लिखीं, जिनमें उन्होंने अपने इनक़लाबी प्रोग्राम को बयान किया है। इन किताबों से शाह साहब के सियासी ख़यालों पर अच्छी रोशनी पड़ती है। बहुत बार तो यह देख कर दंग रह जाना पड़ता है कि आज जिन उलझनों में हमारा मुल्क फँसा हुआ है उन पर हमारे इस दूर तक देखने वाले दरवेश ने कितनी क़ाबलियत के साथ रोशनी डाली है।

## शाह साहब के तीन ख़ास असूल

शाह साहब की किताबों से उनके तीन खास असूलों का पता चलता है।

पहला यह कि वह हिन्दुस्तान को एशिया का एक ताक़तवर मुल्क देखना चाहते थे। उनकी राय में यह तभी हो सकता था जब यह पूरा मुल्क किसी एक हकूमत के आधीन हो। उन्होंने अपनी किताब "बुदूरे-बाज़ग़ह" में लिखा है कि मुल्क में छोटे छोटे ख़ुद-मुख़्तार राज भले ही हों, लेकिन उनका एक फ़ैडरेशन होना चाहिए, जिससे किसी भी मसले पर पूरे हिन्दुस्तान का फ़ायदा नुक़सान निगाह में रख कर ग़ौर किया जा सके। 'फ़ैडरेशन' के लिए उन्होंने "इत्तिफ़ाक़" लफ़ज़ इस्तेमाल किया है। उन्हें अकबर के ज़माने का हिन्दुस्तान अच्छा लगता था, लेकिन उनका मंशा अकबरी साम्राज्य को फिर से ज़िन्दा करना नहीं था। वह सारे मुल्क में एक ऐसी जमहूरी यानी जनता की हकूमत चाहते थे, जिसमें छोटे बड़े, ग़रीब अमीर सब बराबर का हिस्सा ले सकें।

दूसरे वह हिन्दुस्तान भर में हिन्दू मुसलमान और सब के लिए एक ही क़िस्म का क़ानून चाहते थे, जिसकी पाबन्दी हर मज़हब के

लोग कर सकें। उन्होंने एक जगह लिखा है कि—"कि इसको निकाह की मिसाल से समझना आसान होगा, 'निकाह' की रस्म का मतलब सिर्फ़ यह है कि समाज को एक औरत और एक मर्द के बीच शौहर और बीवी के सम्बन्ध पैदा हो जाने का पता चल जाय, फिर चाहे यह काम बाजे बजा कर, गीत गाकर आग के सामने किया जाय या किसी क़ाज़ी के सामने रस्म पूरी की जाय, निकाह का मक़सद दोनों ही तरह से पूरा हो जाता है। राज को सिर्फ़ उसकी पाबन्दी से मतलब है, रस्मों से कोई वास्ता नहीं है।"

तीसरी बात जिस पर उन्होंने सबसे ज़्यादा ज़ोर दिया यह थी कि सब तरह के मज़दूर पेशा और कारीगर लोगों को उनके सही हक़ दिलाए जायें और उन पर कम से कम बोझ रखा जाए। इसी मसले पर उन्होंने सबसे ज़्यादा लिखा है और मुग़ल सलतनत के गिरने की ख़ास वजह यही बताई है। वह एक ऐसी हुकूमत चाहते थे जिसमें किसी भी आदमी को अपनी जिन्दगी की ज़रूरतों के लिये तरसना न पड़े। उन्होंने अपनी एक किताब में लिखा है—"अलग़रज़ इन्सानों की इजतमाई (मिली हुई) जिन्दगी के लिये इक़तसादी तवाज़ुन (आर्थिक यानी माली बराबरी) एक ज़रूरी बात है। हर इन्सानी जमात को एक ऐसे इक़तसादी निज़ाम (आर्थिक प्रबन्ध) की ज़रूरत होती है जो लोगों की जिन्दगी की सब ज़रूरतों का कफ़ील (पूरा करने वाला) हो। जब लोगों को अपनी इक़तसादी (माली) ज़रूरतों से इत्मीनान नसीब होता है, तो फिर कहीं वह अपने ख़ाली वक़्त में, जो उनके पास कसबे-मआश (रोज़ी कमाने) के बाद बच रहता है, ज़िन्दगी के उन शोबों (कामों) की तरक़्क़ी और तहज़ीब की तरफ़ मुतवज्जह होते हैं (ध्यान देते हैं), जो इन्सानियत के असल जौहर हैं।"

शाह साहब इन मामलों में पक्के सोशलिस्ट यानी साम्यवादी थे, "कम्यूनिस्ट मेनी.फेस्टो" निकलने से यह क़रीब सौ बरस पहले की बात है ।

## अमल के मैदान में

अपनी किताबों और तकरीरों से प्रचार करने के बाद अपने इन ख़यालों को अमली जामा पहनाने के लिये ५ मई सन् १७३१ को उन्होंने बाक़ायदा एक जमात बनाई, जिसका मक़सद हिन्दुस्तान में एक सियासी इनक़लाब करना था। इस जमात के चार असूल थे—(१) .खुदा परस्ती यानी ईश्वर की पूजा (२) इन्साफ (३) तर्बियते नफ़्स यानी अपने चरित्र को ठीक करना, और (४) ज़ब्त नफ्स यानी संयम।

इस जमात का नाम "जम्मीयते मरकज़िया" यानी "सैन्ट्रल कमेटी" रक्खा गया और मुल्क के सब हिस्सों में इसकी बहुत सी शाखें क़ायम की गईं। इन शाख़ों में नजीबाबाद का मदरसा बरेली में शाह इलमुल्लाह का तकिया और सिन्ध के शहर टह में मुल्ला मुहम्मद मुईन का मदरसा ख़ास थे।

इन शाख़ों के ज़रिये सारे मुल्क में शाह वलीउल्लाह के ख़यालों का प्रचार किया गया। शाह साहब के ख़ास शागिर्दों मे मौलाना मुहम्मद हुसैन .फुलती, मोलवी नूरुल्ला बुरहानवी और मौलाना मुहम्मद अमीन कशमीरी ने प्रचार का काम अपने ऊपर लिया, और अमीरों ग़रीबों मुल्ला मौलवियों और आम लोगों सब में एक बेदारी पैदा कर दी। कुछ मुसलमानों ने यह एतराज़ उठाया कि जब सिक्ख और मराठे मुसलमानी हुकूमत पर हमला कर रहे हैं, और उन्होंने एक मज़हबी जंग छेड़ रक्खी है, तब ऐसी हालत में इन ख़यालों का प्रचार करना एक मुसलमान के लिये कहाँ तक जायज है? इस एतराज़ के जवाब में शाह साहब ने कहा कि—"कोई भी हुकूमत सिर्फ़ इसलिये इसलामी हकूमत

नहीं हो जाती कि उसका बादशाह मुसलमान है। इसके ख़िलाफ़ इन्साफ़ के सहारे चलने वाली कोई ऐसी हुकूमत भी मुसलमानी हुकूमत हो सकती है, जिसका बादशाह मुसलमान न हो।"

धीरे-धीरे यह संगठन इतना मज़बूत होता गया कि मौलाना उबैदुल्ला सिन्धी के लफ़्ज़ों में—"शाह साहब की इस जमात ने बाक़ायदा एक आरज़ी हकूमत (काम चलाऊ सरकार) क़ायम कर ली।" उस वक्त शाह साहब के कुछ शागिर्दों ने हुकूमत के ख़िलाफ़ तलवार उठाने पर ज़ोर दिया शाह साहब ने उन्हें मना कर दिया और समझाया कि जिस तरह हज़रत मुहम्मद ने तेरह साल तक अदम तशद्दुद यानी अहिंसा के सहारे अपना प्रचार किया यहां तक कि ख़ुद हिजरत कर गये लेकिन तलवार हाथ में न ली, उसी तरह हमें भी चुपचाप अपने विचारों को फैलाने का काम करते रहना चाहिये जब तक कि इस इनक़लाब की हम पूरी तय्यारी न कर लें। कुछ दिन बाद देहली के एक हाकिम नजफ़ अली खाँ ने शाह साहब के हाथों के पंजे उतरवा दिये, ताकि वह लिखकर अपना प्रचार न कर सकें और उनके दोनों बेटों शाह अब्दुल अज़ीज़ और शाह रफ़ीउद्दीन को सलतनत से बाहर निकलवा दिया। शाह साहब इस ज़ुल्म को हँसते हँसते सह गये और उन्होंने इसके ख़िलाफ़ उफ़ तक न की।

आख़िर सन् १७६२ में अपनी जमात का तमाम बोझ अपने बेटे शाह अब्दुल अज़ीज़ पर रखकर वह इस दुनिया से बिदा हो गये। जिस हिन्दुस्तान की उन्होंने कल्पना की थी, उसे वह अपनी आँखों न देख सके और जिस इनक़लाब की उन्होंने नींव डाली थी, उसे भी देखना उन्हें नसीब न हुआ, फिर भी हिन्दुस्तान में वह एक ऐसी जमात क़ायम कर गए, जिसने ज़माने की ज़रूरतों के मुताबिक़ अपने को बदल कर हिन्दुस्तान को एक हरा भरा मुल्क बनाने की कोशिशों में पूरा हिस्सा लिया और आज क़रीब दो सौ साल बाद भी जो न सिर्फ़ ज़िन्दा है

बल्कि हमारे मुल्क की जंगे आज़ादी में "जमीयत-उल उलमाए हिन्द" की शक्ल में एक ख़ास जगह रखती है। शाह वलीउल्लाह से लेकर मौलाना हुसैन अहमद मदनी तक का यह सिलसिला एक ऐसी तारीख़ है, जिसका हर पन्ना शहीदों के ख़ून से लाल है और जिस पर हमारा मुल्क जितना भी घमंड करे थोड़ा है।

शाह वली उल्लाह ने कुल साठ बरस की उम्र पाई। उनके साथ न किसी राजा या नवाब की ताक़त थी और न वह ख़ुद घर के कुछ ज़्यादा आसूदा थे। वह एक सीधे-सादे दरवेश थे, जिसकी दौलत उसके दिल की सचाई और फ़क़ीरी होती है। उन दिनों दिल्ली की हर सुबह एक नये इन्क़लाब का पैग़ाम लेकर आती थी। अपने इस छोटे से ज़माने में उन्होंने देहली के तख़्त पर दस बादशाहों को बैठते गिरते देखा। सादात बारा का तसल्लुत, फ़रुंख़सियर का उनके हाथों क़ैद में मरना, तूरानी उमराओं के हाथों सादातबारा का ज़वाल, मरहटों की बग़ावत और उरुज, सिखों की बग़ावत, नादिरशाह का हमला, देहली का क़त्लेआम, मुहम्मदशाह अब्दाली और पानीपत की जंग, सियासते हिन्द में रुहेलों की शिरकत, हिन्दुस्तान में यूरोपियनों का लालच, फिर बंगाल और बिहार में अंगरेजों का अमल दख़ल, यह तमाम बातें शाह साहब की आँखों के आगे से गुज़री थीं, फिर भी इस बात पर अचरज होता है कि मुल्क की बदक़िस्मती की उन काली घड़ियों में, जब विदेशियों की ग़ुलामी की ज़ंजीरें दिनों दिन कड़ी होती जा रही थीं, कैसे उनकी उम्मीदों का चिराग़ आख़ीर तक इस शान से जलता रहा।

शाह साहब को इस दुनिया से गये क़रीब पौने दो सौ बरस हो गये। जिस तहरीक की वह नींव डाल गये थे, वह आज भी ज्यों की त्यों क़ायम है, उनके पीछे आने वालों ने उस पर कुछ न कुछ मंज़िलें खड़ी की हैं। काश! हम सब अपनी फ़िरक़ावाराना तंगनज़री से ऊपर उठकर अपनी इस अज़ीमुश्शान बुज़ुर्ग हस्ती को पहिचान पाते?

# शाह अब्दुल अज़ीज़

सन् १७६२ में, जब शाह वलीउल्लाह साहब की इनक़लाबी तहरीक, जो आम लोगों का राज या आजकल की ज़बान में, संशलिस्ट डेमोक्रेटिक हुकूमत क़ायम करने की तहरीक कही जा सकती थी, अपना बचपन पार करके जवानी में क़दम रखती जा रही थी, शाह साहब दुनिया से चल बसे। उनके बाद शाह साहब के बेटे शाह अब्दुल अज़ीज अपने बाप की जगह इस तहरीक के दूसरे इमाम यानी नेता चुने गये।

शाह अब्दुल अज़ीज़ उस वक़्त सत्रह साल के थे। वह सिर्फ़ इसीलिये इमाम नहीं चुने गये कि वह शाह वलीउल्लाह के बेटे थे, बल्कि इसलिये कि पिछले दो साल से वह बड़ी ज़िम्मेदारी के साथ इस तहरीक के काम में अपने बाप का हाथ बटा रहे थे और बड़ी क़ाबलियत से अपने मदरसे में तालीम दे रहे थे। मौलाना मुहम्मद आशिक़ फुलती, मौलाना मुहम्मद अमीन काशमीरी और मौलवी नूरुल्लाह बुरहानवी जैसे वलीउल्लाह साहब के साथियों तक ने इसी बात पर ज़ोर दिया कि शाह अब्दुल अज़ीज़ ही इमामत के इस काँटों भरे ताज को संभाल सकते हैं।

शाह अब्दुल अज़ीज़ की क़ाबलियत के बारे में मशहूर है कि फ़ारसी और अरबी की बहुत सी किताबें उनकी ज़बान पर थीं और ज़रूरत पड़ने पर उनमें से काम की बातें और लम्बी-लम्बी इबारतें वह ज़बानी बोलकर लिखवा दिया करते। तालिबइल्मों के साथ उनका बरताव इतना अच्छा था कि जो एक बार उनके पास आ गया, उसका

मदरसा छोड़कर जाने को जी न चाहता। मज़हबी भेद-भाव उनमें नहीं था। उनके एक ब्राह्मण दोस्त कभी-कभी हफ़्तों उनके साथ रहते, और उनके घर पर ही पूजा-पाठ करते, सूरज को जल चढ़ाते, वेद-पाठ करते, पर शाह साहब के घर उनको कभी कोई दिक़्क़त न होती। मज़हबी उपदेश देते वक़्त भी वह इस बात का बेहद ख़याल रखते थे कि कोई ऐसी बात न निकल जाय जो किसी के भी दिल को दुखावे।

ऐसी अच्छी फ़क़ीरी तबियत और दूसरों के दिल न दुखाने का इतना ख्याल रखते हुए भी शाह साहब को उस ज़माने की सरकार और कट्टर ख़याल के लोगों की तरफ़ से ज़िन्दगी भर कड़ी मुख़ालफ़त और मुसीबतों का सामना करना पड़ा। उन्हें दो बार ज़हर दिया गया। एक बार छिपकली का उबटन उनके बदन से मलवा दिया गया जिससे उन्हें कोढ़ की बीमारी हो गई। इसके बाद भी जब उनके दुशमनों ने देखा कि वह अपने असूलों पर ज्यों के त्यों क़ायम हैं और उसी जोश और दिलेरी के साथ अपनी तहरीक फैला रहे हैं तो फिर हुकूमत की तरफ़ से उनको देहली से देश निकाला दिया गया। हुक्म हुआ कि देहली से बाहर एक ख़ास हद तक वह किसी सवारी का इस्तेमाल भी नहीं कर सकते। नतीजा यह हुआ कि उन्हें जौनपुर तक पैदल जाना पड़ा। रास्ते में लू लगने से हमेशा के लिये उनकी आँखों की रोशनी जाती रही।

यह तमाम सख़्तियाँ शाह अब्दुल अज़ीज़ हँसते-हँसते झेल गये, वह जानते थे कि इन्क़लाब का रास्ता इन तकलीफ़ों और परेशानियों के झाड़-झंखारों में होकर ही जाता है। सब्र के साथ उनको बर्दाश्त कर लेने से ही कामयाबी मिल सकती है।

देश निकाले के ज़माने में शाह साहब ने कितनी ही किताबें लिखीं। इनमें उन किताबों का तफ़सीलवार जवाब था, जो इस अर्से में शाह वलीउल्लाह साहब या उनकी जमात के ख़िलाफ़ लिखी गई थीं। इन किताबों में सब से ज्यादा मशहूर 'तोफ़ा असना अशरिया' है। यह फ़ारसी

में है। दूसरी है 'तफ़सीर .फतहुल अज़ीज़' जिसमें शाह वलीउल्लाह साहब की किताब 'तफ़सीर .फतहुर्रहमान' की बातों को बड़े फैलाव के साथ समझाया गया है। इसके अलावा 'बस्तानुल मोहद्दसीन' (हदीस पढ़ाने वालों का हाल), 'शरह मीज़ान मन्तक़' (मन्तक़ याने तर्क पर) 'उजाल ए नाफ़िया' (हदीस के असूल) वग़ैरा और भी बहुत सी ऐसी किताबें लिखीं जो अरबी फ़ारसी के साहित्य में शाह साहब का नाम हमेशा रोशन रक्खेंगी।

देश निकाले की मियाद ख़त्म होते ही शाह शाहब फिर देहली आ मौजूद हुए और तालीम देने का काम शुरू कर दिया। यह वह ज़माना था जब नए-नए पीरों और बिदअतियों यानी अपने मतलब के लिये नए-नए असूलों को गढ़ कर उनको ही मज़हबी फ़र्ज़ क़रार देने वालों का .ज़ोर था। एक बुज़ुर्ग का कहना है—"शहर भर के गुन्डे और बदमाश कल्ले रखाये, रंगीन कपड़ों में सजे-धजे सूफ़ी बने घूमते थे। मामूली आदमी ही नहीं शाहज़ादे और शाहज़ादियाँ भी उनका मुरीद या चेला होना अपने लिये एक बड़ी बात समझते थे। इन लोगों की हिम्मत यहाँ तक बढ़ गई थी कि इनमें से कोई कोई मसजिद के मुल्लाओं के पास जाकर कहते—'ऐ मसजिद के मेंढ़े! ला हमें कुछ दे, आज हमें......जाना है' और बेचारे मुल्ला को अपनी जान छुड़ाने के लिये कुछ न कुछ देना ही पड़ता था।"*

राजकाजी हालत यह थी कि ख़ास देहली में एक अंग्रेज़ रेज़ीडेन्ट रहने लगा था जो कभी .खुशामद से, कभी लालच से और कभी-कभी लाल आँखें दिखाकर उस वक़्त के कम.ज़ोर मुग़ल बादशाह से मन चाहे काम करा लिया करता था। बंगाल बिहार की दीवानी यानी वहाँ की माल गुज़ारी वसूल करने का अख़्तियार अंग्रेज़ कम्पनी को सौंपा जा चुका था

* 'उलमाए हिन्द का शानदार माज़ी'

और वहाँ के लाखों घराने कम्पनी की ज़ालिम हुकूमत के नीचे दबे कराह रहे थे। बाक़ी हिन्दुस्तान में भी एक दो हिन्दुस्तानी हुक्मरानों को छोड़कर बाक़ी के सब राजे नवाब अंगरेज़ों के हाथ की कठपुतली बने हुए बेशर्मी के साथ एक दूसरे पर ग़ुर्राते रहते थे।

यह हालत बर्दाश्त की हद पारकर चुकी थी और ज़रूरी हो गया था कि क़लम और ज़बान के साथ-साथ तलवार का भी सहारा लिया जाये। पर उस वक़्त शाह साहब की जमात की बिसात ही कितनी थी, फिर भी चुप बैठ सकना मुशकिल था।

शाह साहब ने इसके लिये पहला काम यह किया कि हिन्दुस्तान की उन सब जगहों को, जहाँ आज़ाद इस्लामी हुकूमत नहीं थीं, दारुल-हरब क़रार दे दिया, इसका मतलब यह था कि उन जगहों में रहने वाले हर मुसलमान का यह मज़हबी फ़र्ज़ हो गया कि या तो वह हुकूमत के ख़िलाफ़ तलवार उठाये या उस जगह को छोड़ दे। उस ज़माने की हालत में यह कोई मामूली बात न थी। और वह भी एक ऐसे मामूली फ़क़ीर के लिये, जो अपने पीछे सिर्फ़ थोड़े से मुरीद रखता हो, ख़ुद कोढ़ की बीमारी में गिरफ़्तार हो, आँखों की रोशनी जा चुकी हो जिसकी वजह से वह अपनी जगह से हिलने डुलने में भी किसी दूसरे आदमी का मुहताज हो।

शाह अब्दुल अज़ीज़ साहब यह फ़तवा देकर ही नहीं बैठ गये। इनक़लाब की फ़ौजी तय्यारियों के लिये उन्होंने बाक़ायदा एक "बोर्ड" बनाया जिसके सदर शाह साहब के शागिर्द सय्यद अहमद साहब बरेलवी और उनके नायब शाह साहब के भतीजे शाह इस्माईल और शाह साहब के दामाद मौलाना अब्दुल हयी बनाये गये। उस बोर्ड ने जनता को मुल्क का असली हाल बताने और उसके ख़िलाफ़ लड़ने के वास्ते रंगरूट भरती करने के लिये हिन्दुस्तान के अलग-अलग हिस्सों का दौरा शुरू किया। अपने काम में इस बोर्ड को निहायत कामयाबी हुई।

कहा जाता है यह लोग जहाँ भी पहुँचते थे, उसी जगह हज़ारों मुसलमानों की भीड़ इकट्ठी हो जाती थी। वह लोग सय्यद अहमद साहब की बैत करते थे यानी उनको अपना गुरू मान लेते थे और मुल्क व मजहब के लिये जान देने की क़सम खाते थे।

घूमते-घूमते जब यह बोर्ड रामपुर पहुँचा, तो वहाँ के कुछ अफ़ग़ानों ने सय्यद साहब से शिकायत की कि पंजाब की सिक्ख हुकूमत अंग्रेजों से मिल रही है। सय्यद अहमद साहब पर इसका बड़ा असर पड़ा और उन्होंने सब से पहले सिक्खों से सुलझ लेने का इरादा किया। उसदिन से इस मुल्क की आज़ादी का तहरीक कुछ दिनों के लिये एक फ़िर्केवाराना तहरीक बन गई।

इस तहरीक के सिक्खों की तरफ़ मुड़ते ही अंगरेज जो आज तक उस जमात को दुशमनी की निगाह से देखते थे उलटे उसके हिमायती बन गये। अब जहाँ-जहाँ सय्यद साहब जाते वहाँ वहाँ अगरेज़ उनकी आवभगत करते। कानपुर में तो किसी अगरेज़की बीवी बाक़ायदा सय्यद साहब की मुरीद बनी और उसने कई हज़ार रुपये उनकी और उनके कई सौ साथियों की ख़ातिरदारी में ख़र्च किये। यहाँ पर यह न भूल जाना चाहिये कि सय्यद साहब जिस सिक्ख हुकूमत के ख़िलाफ़ लड़ने की तैयारी कर रहे थे उसका राजा रंजीतसिंह अंग्रेज़ों का बहुत गहरा दोस्त था। दोस्त होते हुए भी अंगरेज़ों को उसकी तरफ़ से बड़ा डर रहता था यही वजह थी कि एक तरफ़ तो अंगरेज राजा रंजीतसिंह की दोस्ती का दम भरते थे और दूसरी तरफ़ उसकी हुकूमत के ख़िलाफ़ उन तय्यारियों को न सिर्फ़ चुपचाप बर्दाश्त कर रहे थे, बल्कि उसमें तरह-तरह की मदद पहुँचा रहे थे। असल में उन्हें यह देखकर बड़ी ख़ुशी थी कि जिस जमात से उन्हें इतना बड़ा ख़तरा था वह अब अपने ही एक देशवासी से टकराने जा रही है। इसका नतीजा कुछ भी हो, यानी सिक्ख हुकूमत की जीत हो या दुशमन क़ामयाब रहे, अंग़रेज़ दोनों तरफ़ अपना फ़ायदा समझे हुए थे।

इतने ही में सय्यद अहमद साहब एक बड़े जत्थे के साथ हज को तशरीफ़ ले गए। सिक्खों से उनकी टक्कर रुक गई।

हज के लिये रवाना होने के लगभग दो साल बाद यानी सन् १८२४ में शाह अब्दुल अज़ीज़ साहब का एक मामूली बीमारी के बाद इन्तक़ाल हो गया। इस वक़्त आपकी उम्र अस्सी साल की थी। जब तक जिये, अपने बाप की हिदायत के मुताबिक़ अपने मुल्क को विदेशियों के असर से आज़ाद करने की कोशिश करते रहे। इसी ख़याल से आपने सय्यद अहमद साहब को नवाब अमीर ख़ाँ पिन्डारी के लशकर में दाख़िल कराया, जहाँ वह घुड़सवार फ़ौज के एक ऊँचे ओहदेदार रहे। बाद में अमीर ख़ाँ ने जब अंग्रेज़ों से सुलह कर ली और सय्यद साहब के बार-बार कहने पर भी अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ लड़ना मंज़ूर न किया, तो सय्यद साहब वहाँ से अलग होकर शाह साहब के पास चले आए। अमीर ख़ाँ की नौकरी छोड़ते वक़्त आपने शाह साहब को लिखा था कि नवाब साहब अब अंग्रेज़ों के साथ मिल गये हैं, इसलिये यहाँ रहना फ़िज़ूल है। इसीलिये मैंने उनकी नौकरी भी छोड़ दी है।

शाह साहब और सय्यद अहमद साहब किसी भी तरह अंग्रेज़ों को हिन्दुस्तान में टिकने देना नहीं चाहते थे।

शाह अब्दुल अज़ीज़ साहब अपने मरने से पहले यह वसीयत कर गये थे कि मेरे कफ़न दफ़न में ज़रा भी शान शौकत से काम न लिया जाय। वह हमेशा मोटी धोतर का कुर्ता और खद्दर का पाजामा या तहबन्द पहिनते थे और अपने कफ़न के लिये भी खद्दर की ही वसीयत कर गये थे। इसके अलावा उन्होंने एक बड़ी बात, जो उनके दिल का सच्चा पता देती है, यह कही थी कि मेरे जनाज़े में शरीक होने की दावत बादशाह को न दी जाय।

यह सब किया गया, फिर भी जिस शान शौकत के साथ दिल्ली में जनता ने अपने इस सच्चे रहबर और जांनिसार को दफ़न किया वह बादशाहों को भी नसीब होना मुश्किल है। भीड़ इतनी थी कि जनाज़े की नमाज़ पचपन मर्तबा पढ़ी गई।

इस तरह मुल्क में आम लोगों की हुकूमत क़ायम करने के लिये लड़ने वाली इस जमात का यह दूसरा इमाम भी अपनी ज़िन्दगी का एक-एक पल इसी फ़िक्र और कशमकश में बिता कर मौत की गोद में सो गया।

---

"दूसरों के लिये अपनी जान न्योछावर कर देने से बढ़कर कोई धर्म नहीं......एक वक्त आयगा जब तुम्हें इसी नेक काम के बदले में सज़ा भुगतनी पड़ेगी, लोग तुम्हें अपनी जात, अपने समाज से बाहर निकाल देंगे और तुम्हें मौत की सज़ा तक देंगे और यह सब ज़ुल्म वह दीन धरम और भगवान के नाम पर करेंगे...............
.........लेकिन नेक काम के लिये तकलीफ़ें उठाने से भगवान ख़ुश होते हैं। ईसा दूसरे लोगों के लिये ही सूली पर चढ़े। तुम्हें उनके दिखाये हुए इसी रास्ते पर चलना चाहिये—" (इन्जील, यूहना १५, १६; पीटर २, १६ और २०)

—::※::—

# शाह मुहम्मद इसहाक़

शाह अब्दुल अजीज ने शाह वलीउल्लाह साहब की इनक़लाबी तहरीक को काग़ज़ कलम और बहस मुबाहिसे से निकाल कर बहुत कुछ सियासियाना लिबास पहिना दिया। इसके बाद सन् १८२४ ई० में शाह अब्दुल अजीज इस दुनिया से चल दिये और शाह मुहम्मद इसहाक़ इस तहरीक के तीसरे इमाम बनाये गये। रिश्ते में वह शाह अब्दुल अजीज़ साहब के धेवते थे। शाह मुहम्मद इसहाक का सारा पढ़ना लिखना अपने नाना के मदरसे में ही हुआ था। इसीलिये अभी जब तक उनके मुँह से माँ के दूध की गन्ध भी अच्छी तरह नहीं गई थी, तभी से वह अपने बड़े नाना शाह वलीउल्लाह के मिशन और उसके उसूलों में दिलचस्पी लेने लगे थे। उन उसूलों के प्रचार के सिलसिले में उनके नाना शाह अब्दुल अजीज साहब को जो जो तकलीफें झेलनी पड़ी थी वह बहुत कुछ शाह मुहम्मद इसहाक ने अपनी आँखों देखी थीं। उनकी तबियत पर इसका बहुत बड़ा असर था।

शाह अब्दुल अजीज ने अपने धेवते को छोटी उमर से ही पहिचान लिया था। वह समझ गये थे कि उनके बाद उनकी तहरीक को चलाने के लिये सबसे ज्यादा ठीक नेता मुहम्मद इसहाक़ ही हो सकते थे। फौजी संगठन के लिये उन्होंने सय्यद अहमद साहब की सदारत में मौलाना अब्दुल हयी और शाह इसमाईल साहब का एक फ़ौजी बोर्ड बनाया। उसके साथ ही तमाम ग़ैर फ़ौजी कामो के लिये जैसे प्रचार वग़ैरा, एक दूसरा बोर्ड बनाया जिसके सदर शाह मुहम्मद इसहाक़ साहब थे। इस तरह अपनी ज़िन्दगी में ही उन्होंने अपने

प्यारे घेवते को मुल्क के लिये एक ऐसी जमात की सरदारी का काँटों भरा ताज पहिना दिया, जिसे अंगारों से भरे रास्ते से गुज़र कर अपनी मंज़िल तक पहुँचना था।

सन् १८२४ में शाह मुहम्मद इसहाक़ साहब ने इस इनक़लाबी तहरीक की कमान हाथ में ली। देहली के शाही तख़्त पर उस वक़्त सम्राट अकबर शाह थे। पर वह नाम के ही बादशाह रह गये थे। हिन्दुस्तान के असली मालिक ईस्ट इन्डिया कम्पनी के गवर्नर जनरल लार्ड एमहर्स्ट और देहली के दरबार में कम्पनी का रेज़ीडेण्ट चार्ल्स मेटकाफ़ थे। मेटकाफ़ ने अपने घमंड भरे बरताव और गुस्ताख़ियों से बादशाह के नाकोदम कर रक्खा था। यों तो कुछ दिनों पहले से देहली की बादशाहत कमज़ोर होती जा रही थी, फिर भी हिन्दुस्तान में रहने वाले अंग्रेज़ अफ़सर कम-से-कम दिखावे के लिये बादशाह के साथ इज़्ज़त का बर्ताव करते थे और अपने को उसकी रिआया ज़ाहिर करते थे। लेकिन लार्ड एमहर्स्ट और चार्ल्स मेटकाफ़ ने इस परदे को भी उतार कर फेंक दिया। इससे पहले देहली के दरबार में रहने वाला हर अंगरेज़ रेज़ीडेण्ट और सब दर्बारियों की तरह बादशाह को "तसलीम कोरनिश और मुजरा" किया करता था और शाही ख़ानदान के हर बच्चे की मुनासिब इज़्ज़त करता था। लार्ड एमहर्स्ट की शह पाकर चार्ल्स मेटकाफ़ ने इस परम्परा को बदल दिया और भरे दरबार में ऐसी हरकतें करनी शुरू कर दीं, जो बादशाह की शान और इज़्ज़त में बट्टा लगाने वाली थीं। अगरेज़ों की हिम्मत यहाँ तक बढ़ गई थी कि बादशाह अकबर शाह ने जब अपने एक बेटे मिरज़ा सलीम को अपना वली अहद बनाना चाहा, तो अँगरेज़ों ने उसे इलाहाबाद भेजकर नज़रबन्द कर दिया। इसके बाद जब बादशाह ने अपने दूसरे बेटे मिरज़ा नीली को अपने बाद तख़्त का हक़दार बनाना चाहा, तो अँगरेज़ों ने उसकी भी मुख़ालफ़त की। इन बातों से तंग आकर बादशाह ने राजा राममोहनराय को अपना एलची बनाकर बिलायत भेजा और

ब्रिटिश पार्लियामेन्ट से इन्साफ़ कराने की कोशिश की, पर राजा राम-मोहनराय को भी नाउम्मीद लौटना पड़ा। इंगलिस्तान के हाकिमों ने राजा राम ोहनराय की एक न सुनी।

जो हालत देहली की थी, ठीक वही हालत बाक़ी हिन्दुस्तान की थी। आये दिन हिन्दुस्तान की रियासतों को एक दूसरे से लड़ा कर किसी न किसी राजा या नवाब के गले में कम्पनी की ग़ुलामी का तौक़ डाल दिया जाता था, और जो मुख़ालफ़त पर डट जाता था उसे बर्बाद कर दिया जाता था। आम लोगों के साथ अंग्रेजों के बर्ताव की यह हालत हो चली थी कि कहीं-कहीं वह अपने सामने किसी हिन्दुस्तानी का घोड़े पर चढ़ कर निकल जाना भी बरदाश्त नहीं करते थे, और जगह-जगह ख़ासकर कम्पनी की फ़ौजों के अन्दर लोगों के मज़हबी व समाजी मामलों में भी दख़ल देने लगे थे।

अंग्रेज़ पादरी खुले आम हिन्दू मुसलमानों के अवतारों और पैग़म्बरों पर छींटे कसते थे। २२ मार्च सन् १८३२ को पार्लियामेन्ट की सिलेक्ट कमेटी के सामने गवाही देते हुए कप्तान टी० मैकन ने कहा था—"बहुत से इज़्ज़तदार हिन्दुस्तानी मुसलमानों ने मुझ से बयान किया है कि गवरमेन्ट ईसाई पादरियों के साथ बड़ी रियायतें करती है, और यह पादरी लोग उनके मज़हबी रिवाजों को बुरा कहने और बज़ुर्गों को गालियों देने तक की हद को पहुँच जाते हैं।" इनमें से एक पादरी हिन्दू मुसलमान जनता से तक़रीर करते हुए कह रहा था—"तुम लोग हज़रत मुहम्मद के ज़रिये अपने गुनाहों की माफ़ी चाहते हो, लेकिन हज़रत मुहम्मद इस व़क़्त ××× में हैं और अगर तुम लोग उनके उसूलों पर यक़ीन करते रहोगे, तो तुम सब भी××× में जाओगे।"

यह उस व़क़्त के हिन्दुस्तान की एक धुँदली सी तसवीर है।

शाह मुहम्मद इसहाक़ साहब को इमामत की गद्दी संभाले कुछ ही दिन हुए थे कि सय्यद अहमद साहब भी हज से वापस आ गये। उन्होंने भी शाह मुहम्मद इसहाक़ साहब को अपना नेता माना। जब कभी मदरसे के अन्दर कोई जलसा होता था, तो सदारत की चौकी पर शाह मुहम्मद इसहाक़ बैठते थे और सय्यद अहमद साहब नीचे बैठते थे, और जब कोई फ़ौजी या जंगी बहस होती थी, ख़ास कर मदरसे से बाहर, तो फ़ौजी बोर्ड के सदर की हैसियत से, सय्यद अहमद साहब सदारत करते थे और मुहम्मद इसहाक़ साहब नीचे बैठते थे। मतलब यह कि गो सय्यद अहमद साहब उमर में बड़े थे, फिर भी अपने उस्ताद शाह अब्दुल अज़ीज़ की आख़री वसीयत के मुताबिक़ तमाम ग़ैर फ़ौजी कामों में मुहम्मद इसहाक़ साहब को ही अपना नेता मानते थे।

हज से वापस आने के कुछ दिन बाद ही सय्यद अहमद साहब क़रीब दो हज़ार साथियों को लेकर सिन्ध के रास्ते काबुल पहुँचे और फिर ख़ैबर के रास्ते पेशावर लौट आए। यह तमाम काफ़ला बड़ी धूम-धाम से अंग्रेज़ों की जानकारी में रवाना हुआ, लेकिन अंग्रेज़ों ने इसमें कोई रोकथाम नहीं की। वजह साफ़ थी। अंग्रेज़ राजा रनजीत-सिंह की ताक़त से बुरी तरह डरते थे। एक तरफ़ वह राजा रनजीतसिंह के दोस्त बने हुए थे और दूसरी तरफ़ मुल्क भर में यह झूठा प्रचार कर रहे थे कि पंजाब की सिक्ख हुकूमत मुसलमानों पर बड़े ज़ुल्म कर रही है। अंग्रेज़ों की यह चाल बहुत काम कर गई। कुछ दिनों के लिये हिन्दुस्तान को अंग्रेज़ों की ग़ुलामी से छुड़ाने का इरादा रखने वाली इनक़लाब की यह लहर सिक्खों की तरफ़ मुड़ गई, और इसके बहादुर नेता अपने देश भाइयों के मुक़ाबले में ही अड़ गये।

सय्यद अहमद साहब सरहद के पहाड़ों में सिक्ख हुकूमत के खिलाफ़ बड़ी बहादुरी से लड़े और सिक्ख हुकूमत भी बड़ी बहादुरी से

उनका मुक़ाबला करती रही। अंग्रेज़ एक तरफ़ तो राजा रनजीतसिंह को सय्यद अहमद साहब के ख़िलाफ़ मदद देते रहे, और दूसरी तरफ़ जब देहली के एक हिन्दू रईस ने सय्यद अहमद साहब की जमात का वह रुपया जो उसके यहाँ जमा था, देने से इन्कार कर दिया, तो, अंग्रेज़ों ने उस पर ज़ोर डालकर वह रुपया सय्यद अहमद साहब के पास सरहद भिजवाया। इस तरह अंग्रेज़ बराबर दोनों तरफ़ मिले रहे और दोनों की मदद करते रहे।

६ मई सन् १८३१ को बाला कोट के मैदान में सय्यद अहमद साहब को लड़ते-लड़ते सिक्ख फ़ौज ने मार डाला। सिक्ख फ़ौज के अफ़सरों ने बड़ी इज़्ज़त के साथ उनको दफ़न किया। दूसरी तरफ़ उनके लश्कर में यह अफ़वाह फैल गई कि सय्यद अहमद साहब कहीं ग़ायब हो गए हैं और फिर वापस आवेंगे। हिन्दुस्तान और सरहदी इलाक़े में आज भी एक ऐसी जमात है जो इस पर यक़ीन करती है कि सय्यद अहमद साहब अभी ज़िन्दा हैं और मेंहदी का अवतार हैं। पर सच यह है कि वह ज़ोरदार लहर जो अंग्रेज़ों को मुल्क से निकालने के लिये उठी थी, अंग्रेज़ों की होशियारी से अपने मुल्क वालों ही से टकरा कर ख़त्म हो गई।

सय्यद अहमद साहब के मरने के बाद इस इनक़लाबी पार्टी में एक दूसरे के ख़िलाफ़ दो दल हो गये। एक तरफ़ शाह मुहम्मद इसहाक़ और उनके ख़याल के लोग यह कहते थे कि मुल्क के असली दुश्मन अंग्रेज़ हैं और मुल्क या मज़हब की कोई तरक़्क़ी उस वक़्त तक नहीं हो सकती, जब तक कि अंग्रेज़ के पैर हिन्दुस्तान में जमे हुए हैं। इसलिये हमें सिक्खों से लड़ने के बजाय, अपने मुल्क वालों से मिलकर अंग्रेज़ों को बाहर निकालना चाहिये। दूसरी तरफ़ सादिक़पुर के मौलाना विलायत अली और उनके कुछ साथियों की राय थी कि सिक्खों के ख़िलाफ़ लड़ाई जारी रखनी चाहिये। शाह मुहम्मद इसहाक़

की पार्टी का ज़ोर रहा। इसलिए मौलाना विलायत अली देहली की मरकज़ी कमेटी से अलग हो गये। उनकी औलाद आज भी सरहद के पहाड़ों में मौजूद है।

अब इस तहरीक का सीधा मोरचा अंगरेजों से था। शाह वली-उल्लाह की तहरीक का यह नया दौर था जो ख़ालिस नेशनल या मुल्की था। पूरे ग्यारह साल ग़ौर करने के बाद शाह मुहम्मद इसहाक़ साहब ने एक नया प्रोग्राम बनाया। अँगरेजों से लड़ने के लिये मौलाना ममलूक अली की सदारत में मौलाना कुतुबुद्दीन देहलवी, मौलाना मुज़फ़्फ़र हुसैन साहब कान्धलवी और मौलाना अब्दुलग़नी का एक बोर्ड बना कर वह .खुद मक्का गये। वहाँ उन्होंने तुर्की सलतनत से अपने सम्बन्ध क़ायम किये और तुर्की की मदद से अँगरेज़ों को हिन्दुस्तान से निकालने की कोशिश करने लगे। देहली के बोर्ड को वह बराबर हिदायतें भेजते रहते थे। कुछ दिनों में अँगरेज़ों को शाह मुहम्मद इसहाक़ साहब की कोशिशों का पता लगा। फ़ौरन ब्रिटिश गवरमेन्ट की तरफ़ से तुर्की की हुकूमत पर यह ज़ोर डाला गया कि वह शाह मुहम्मद इसहाक़ साहब को, जो उस व.क्त तुर्की में थे, अपनी हुकूमत से बाहर निकाल दे। शाह साहब बड़ी मुसीबत में पड़ गये। वहाँ के शेख़ अकरम नाम के एक शख़्स की मदद से उन्होंने यह इजाज़त हासिल कर ली कि वह हेजाज़ में रह सकते हैं।

देहली का बोर्ड, अँगरेज़ों की नज़रों से बचा रहा क्योंकि उसके सदर मौलाना ममलूक अली थे, जो देहली कालिज में प्रोफ़ेसर थे। कहा जाता है मौलाना ममलूक अली को बोर्ड का सदर इसीलिये बनाया गया था जिससे यह तमाम तहरीक अँगरेज़ रेज़ीडेण्ट की ख़ूनी आँखों से बची रहे। कुछ दिन बाद जब तहरीक के इनक़लाबीपन में कुछ हलकापन आने लगा तो शाह मुहम्मद इसहाक़ साहब ने उनकी जगह हाजी इमदादुल्ला साहब को मुक़र्रर कर दिया। वह वही हाजी इमदादुल्ला साहब

हैं, जिन्होंने सन् १८५७ में शामली के मोरचे पर अँगरेज़ों के दाँत खट्टे कर दिये थे और १८५७ की क्रान्ति नाकाम होने पर अपने दो साथियों को लेकर हेजाज़ जा पहुँचे थे। अँगरेज़ सरकार लाख कोशिश करने पर भी उन्हें गिरफ़्तार नहीं कर सकी थी।

सन् १८४६ में जब पूरे हिन्दुस्तान में ग्यारह बरस बाद आने वाले इनक़लाब की गड़गड़ाहट सुनाई पड़न लगी थी, हिन्दुस्तान से बाहर शाह मुहम्मद इसहाक़ साहब का शरीर छूट गया। शाह वलीउल्लाह साहब की पाक तहरीक को फ़िर्क़ेवाराना झाड़झङ्काड़ों से निकाल कर फिर से सही रास्ते पर लाना उन्हीं का काम था। इस तरह उन्होंने न सिर्फ़ उस जमात की, जिसके वह इमाम थे, बल्कि सारे मुल्क की भारी ख़िदमत की। इसके लिये उन्होंने अपने साथियों का विरोध सहा और देश विदेशों की ख़ाक छानी। वह इस जमात के तीसरे इमाम थे। फिर भी इस नए दौर के वह पहिले इमाम माने जा सकते हैं। इस तरह उनकी शख़्सियत इतिहास की नज़र से बहुत अहमियत रखती है। शाह वली उल्लाह साहब की जमात का जो आज कल का रुख़ है उसका बहुत बड़ा सेहरा शाह मुहम्मद इसहाक़ साहब के सर है। वह आज़ादी के सपनों को लिये हुए इस दुनिया से चले गये। काश! वह ग्यारह साल और बैठे रहते और सन् १८५७ के इनक़लाब की एक झलक उन्हें देखने को मिल जाती, जिसमें उनके साथियों और शागिर्दों ने बड़ी हिम्मत और दिलेरी से हिस्सा लिया था।

—:o:—

# हाजी इमदादुल्ला साहब

सन् १८४६ में वली उल्लाई जमात के तीसरे इमाम शाहमुहम्मद इसहाक साहब का मक्के में इन्तकाल हो गया। उनकी जगह हाजी इमदादुल्ला साहब इस जमात के चौथे इमाम चुने गए। सन १८४१ में मुहम्मद इसहाक साहब के मक्का चले जाने के कुछ बरस बाद से ही, उनकी हिदायतों के मुताबिक हाजी इमदादुल्ला साहब हिन्दुस्तान में इस संगठन को चला रहे थे। उनके काम करने के ढंग ने शाह मुहम्मद इसहाक़ साहब के और जमात के दूसरे काम करने वालो और नेताओं के दिलों में उनके लिये एक घर कर लिया था। यही वजह थी कि जब आख़िरी वक़्त में शाह मुहम्मद इसहाक साहब ने वलीउल्लाई जमात की इमामत के लिये हाजी इमदादुल्ला साहब के नाम की वसीयत की, तो सब को ऐसा मालूम हुआ जैसे शाह साहब ने उनके ही दिल की बात कह दी हो।

हाजी इमदादुल्ला साहब की पैदायश सन् १२३३ हिजरी में कस्बा नानौत (सहारनपूर) में हुई थी। आपका बचपन का नाम इमदाद हुसैन था। पढने लिखने में आप बचपन से ही बहुत तेज थे। यह आप की व मुल्क की ख़ुश क़िस्मती थी कि आपको शेख़ मुहम्मद कलन्दर, शेख़ इलाही बख़्श साहब कान्धलवी और शेख़ नसीरुद्दीन साहब देहलवी जैसे गुरू मिल सके, जिन्होंने अपने इस शागिर्द के दिल को ख़ुदा परस्ती और देश भक्ति की रोशनी से जगमगा दिया।

हाजी इमदादुल्लाह साहब अपने इन उस्तादों के जरिये शाह वलीउल्लाह साहब के असूलों और उनकी जमात के कामो से वाक़िफ़ हुए और फिर ख़ुद उसमें शरीक हो गए। शुरू में उनका ताल्लुक़

सय्यद अहमद साहब बरेलवी और उनकी उस जमात से रहा, जो सरहद पर अंगरेज़ों से जंग कर रही थी। लेकिन सन् १८३१ में सय्यद अहमद साहब बालाकोट के मैदान में मारे गए। तब आपने दिल्ली के मदरसे से अपना नाता फिर से जोड़ने की ज़रूरत देखी। यह एक बड़ी बात थी, क्योंकि उस वक़्त तक सय्यद अहमद साहब की जमात के बहुत से लोग इस ख़याल के हो चुके थे कि दिल्ली के मदरसे से कोई वास्ता न रख कर अपना अलग संगठन बनाया जाय और सिखों के ख़िलाफ़ जेहाद जारी रक्खा जाय। पर हाजी इमदादुल्ला साहब अच्छी तरह जानते थे कि मुल्क के असली दुश्मन सिख नहीं अंगरेज़ हैं। उस वक़्त सिखों और अंगरेज़ों में गहरी दोस्ती थी। लेकिन यह सिर्फ़ अंगरेजों की एक चाल थी जिससे सिख और मुसलमान आपस में टकरा कर एक दूसरे की ताक़त कमज़ोर करते रहें और अंगरेज़ों की त़क़त बढ़ती रहे।

इस ख़याल को लेकर जब हाजी इमदादुल्ला साहब दिल्ली पहुँचे, तो मालूम हुआ कि दिल्ली के मदरसे के इमाम शाह मुहम्मद इसहाक़ साहब मक्का जा चुके हैं और वहीं से हिन्दुस्तान में अपने संगठन को मज़बूत करने में जुटे हुए हैं। आप शाह मुहम्मद इसहाक़ साहब से मिलने के लिये फ़ौरन मक्का गए। वहाँ क़रीब एक साल तक रह कर शाह मुहम्मद इसहाक़ साहब से सलाह मशविरा करते रहे कि हिन्दुस्तान में लोगों को कैसे जगाया जावे और कैसे इन्क़लाब पैदा किया जावे। शाह मुहम्मद इसहाक़ साहब पर उनकी इस एक साल की संगत का यह असर पड़ा कि उन्होंने हाजी इमदादुल्ला साहब को अपना नायब इमाम या 'मशीर' बना दिया। हाजी इमदादुल्ला साहब सन् १२६२ हिजरी में हिन्दुस्तान लौटे और यहाँ इसी हैसियत से काम करते रहे। सन् १८४६ ई० में शाह मुहम्मद इसहाक़ साहब के इन्तक़ाल हो जाने पर इस जमात का पूरा बोझ हाजी इमदादुल्ला साहब पर आ पड़ा।

सन् १८४६ का ज़माना हिन्दुस्तान के लिये बड़ी उथल पुथल का था। यों तो हिन्दुस्तान की सर ज़मीन पर जब से अंगरेज़ों ने पैर रक्खा, तभी से यहां के लोगों के लिये सुख की नींद सोना हराम हो गया, लेकिन इधर ज्यों ज्यों दिल्ली के मुग़ल बादशाह की हालत और ताक़त कमज़ोर होती गई, त्यों त्यों अंगरेज़ों के ज़ुल्म और जब्र भी बढ़ते चले गए। इस ज़ुल्म और जब्र के ख़ास शिकार उस वक़्त मुसलमान थे, क्योंकि वली-उल्लाही जमात की तहरीक ने मुसलमानों में जो बेदारी पैदा कर दी थी उसे कम्पानी के नुमाइन्दे और हाकिम फूटी आंखों भी नहीं देखना चाहते थे। लार्ड एलेनबरो ने, जो सन् १८४२ से १८४४ तक हिन्दुस्तान के गवर्नर जनरल रहे, अपने १८ जनवरी सन् १८४३ के एक ख़त में ड्यूक आफ़ वेलिङ्गटन को लिखा था—"मैं इस हक़ीकत की तरफ़ से अपनी आँखें बन्द नहीं कर सकता की मुसलमान क़ौम जड़ से ही हमारी दुशमन है। इस लिये हमारी सची पालिसी हिन्दुओं को अपनी तरफ़ मिलाए रखने की होनी चाहिये।" अपनी गवर्नर जनरली के वक़्त में वह अपनी इसी चाल के मुताबिक़ काम करते रहे।

मुसलमानों की तरफ़ से हिन्दुओं के दिलों में नफ़रत और ग़ुस्सा पैदा कराने के लिये लार्ड एलेनबरो ने लकड़ी के दो दरवाज़े तैयार कराये। फिर इन दरवाज़ों की बाबत मशहूर किया गया कि यह सोमनाथ के मंदिर के वह दरवाज़े हैं जिनको महमूद ग़ज़नवी मन्दिर के फाटक से उतरवा ले गया था। लार्ड एलेनलबरो ने १६ जनवरी १८४२ को हिन्दुस्तान के तमाम हिन्दू सरदारों और राजा महाराजाओं के नाम एक ऐलान शाया किया। इस ऐलान में अंग्रेज़ों और अंगरेज़ी सरकार को हिन्दुओं का ख़ास हिमायती बताया और कहा कि इन दरवाज़ों को अंगरेज़ ग़ज़नी से ले आए हैं और सोमनाथ के मंदिर में हम इनको फिर से लगवा देंगे। इसके बाद उन दरवाज़ों के जगह जगह जुलूस निकलवाए गए। बाद में

पता चल गया कि दरवाज़े जाली थे। वह जाली दरवाजे आज तक आगरे के क़िले में रक्खे हुए हैं।

यह तो अंग्रेज़ों की फूट डालने वाली पालिसी की एक मिसाल है, जो तमाम हिन्दुस्तान में फैली हुई थी। कम्पनी के इलाक़े में आम जनता के साथ अंग्रेजों का बरताव यह था कि अगर कोई हिन्दुस्तानी घोड़े पर सवार होकर अंग्रेज़ों के सामने से निलता था, तो वह यह बरदाश्त नहीं कर सकते थे। ऊँची से ऊँची हैसियत के हिन्दुस्तानी को एक मामूली अंग्रेज़ टामी की इज़्ज़त के लिये घोड़े से उतरना पड़ता था। तमाम मुल्क में हिन्दू या मुसलमानों को ईसाई बनाने के लिये बड़े जोश के साथ काम हो रहा था। इस बारे में ईस्ट इंडिया कम्पनी के डायरेक्टरों की कमेटी के सदर मिस्टर मैंगल्स ने एक बार इंगलैंड की पार्लिमेन्ट में कहा था—"परमात्मा ने हिन्दुस्तान का लम्बा चौड़ा साम्राज इंगलिस्तान को इसलिये सौंपा है कि हिन्दुस्तान में एक सिरे से दूसरे सिरे तक ईसामसीह का झण्डा फहराने लगे। हममें से हर एक को अपनी पूरी ताक़त इस काम में लगा देनी चाहिये जिससे तमाम हिन्दुस्तान को ईसाई बनाने के काम में देश भर में कहीं से ज़रा भी ढील न आने पावे।"

यह 'ईसाई बनाने का काम' कहीं अस्पताल खोल कर तो कहीं हिन्दुस्तानी फ़ौजी अफ़सरों को ईसाई मत में दाख़िल होने पर तरक़्क़ी देने के सहारे चल रहा था। इसके अलावा जगह जगह स्कूल क़ायम किये जा रहे थे जिनमें ईसाई पादरी हिन्दुस्तानी लड़कों के दिलों पर यह छाप डालने के लिये दिन रात मेहनत करते थे कि हिन्दुस्तान हमेशा से एक पिछड़ा हुआ मुल्क रहा है, दुनिया में सच्चा मज़हब सिर्फ़ ईसाइयों का है और उसमें दाख़िल होने पर ही उनको दुनियावी व रूहानी तरक़्क़ी हासिल हो सकती है।

दिल्ली में शाही तख़्त पर उस व.क़ बहादुर शाह थे, जिनके हर एक काम में अंग्रेज रेज़ीडेण्ट ढिटाई के साथ दख़ल देता रहता था। अगर बादशाह एक शाहज़ादे को अपना वारिस बनाना चाहते थे, तो अंग्रेज रेजीडेण्ट दूसरे शाहज़ादे का नाम लेता था और उसको उभाड़ कर शाहज़ादों में भी फूट डालने की कोशिश करता था। उस व.क़ से पहले गवरनर जनरल की मोहर में 'बाद शाह दिल्ली का फ़िदवी-ए ख़ास' लफ़्ज़ खुदे रहते थे, लेकिन अब वह निकाल दिये गए। सब हिन्दुस्तानी सरदारों व रईसों को यह सख़्त हिदायत कर दी गई कि वह इन लफ़्ज़ों का इस्तेमाल न करें। इस तरह बादशाह की हैसियत सिर्फ़ वज़ीफ़ा पाने वाले एक छोटे से रईस की भी हो गई थी। यही हालत मुल्क के दूसरे राजा नवाबों की थी। इस तरह तमाम हिन्दुस्तान में उस व.क़ अन्धेरा ही अन्धेरा नज़र आता था।

हाजी इमदादुल्ला साहब इन मुशकिलों से नहीं घबराए। उन्होंने पहिले अपनी जमात का फिर से संगठन किया। बदक़िस्मती से उस व.क़ वलीउल्लाही जमात में भी दो गिरोह हो चुके थे! एक गिरोह के नेता मौलाना विलायतअली सादिक़पुरी थे। उन्हें यह यक़ीन था कि सय्यद अहमद साहब बालाकोट के मैदान में नहीं मारे गए, बल्कि किसी वजह से छिप गए हैं और वह जब भी ठीक समझेंगे तब ज़ाहिर होकर मुल्क के दुश्मनों के साथ फिर से लड़ाई शुरू करेंगे। इस गिरोह के लोग अपने इसी यक़ीन पर बराबर आदमियों की भर्ती कर रहे थे और रुपया भी इकट्ठा कर रहे थे। लेकिन वह अंग्रेज़ों के साथ लड़ाई छेड़ देने को तय्यार नहीं थे और सय्यद अहमद साहब के इन्तजार में बैठे रहना चाहते थे। हाजी इमदादुल्ला साहब ने उनको साथ लेने की कोशिश की,

लेकिन नाकामयाब रहे। आखिर इन लोगों से अलग रह कर ही उनको काम करना पड़ा।

उस वक़्त हाजी इमदादुल्ला साहब के ख़ास साथियों में मौलाना अब्दुलग़नी साहब, मौलाना मुहम्मद याक़ूब साहब, मौलाना मुहम्मद कासिम साहब व मौलाना रशीद अहमद साहब गंगोही थे। इन साथियों को लेकर उन्होंने जगह जगह घूमना शुरू किया और आम जनता को बतलाया कि अंगरेज़ों की अमलदारी के ख़िलाफ़ तलवार उठाने का इससे बेहतर मौका दूसरा नहीं हो सकता।

इसके लिये उन्होंने अपने दिल्ली के मदरसे के तमाम पुराने तालिबइल्मों के साथ नये सिरे से ताल्लुक़ पैदा किये और कुछ ही दिनों में अपने सगठन को कहीं से कहीं पहुँचा दिया।

लार्ड डलहौज़ी की रियासतों को जब्त करने और हिन्दुस्तान के राजा रईसों को बेइज्जत करने की पालिसी ने भी हाजी इमदादुल्ला साहब के काम में काफ़ी मदद दी। राजाओं और रईसों का यह तबक़ा, जो तब तक छोटी मोटी चालों और लालचों मे फंस कर अंगरेज़ों के साथ अपने ही भाइयों और बराबर वालों के ख़िलाफ़ लड़ने लगता था, अब मिल कर अंगरेज़ों के ख़िलाफ़ तलवार उठाने को तय्यार हो गया। लेकिन हाजी इमदादुल्ला साहब को उन पर पूरा भरोसा न था। वह जानते थे कि असली ताक़त जनता की ताक़त है और कोई भी आज़ादी की लड़ाई तब तक नहीं चल सकती, जब तक कि आम जनता उसमें हिस्सा न ले। इसलिये राजा नवाबों से ताल्लुक़ पैदा करने के फेर में न पड़ कर वह अपनी तक़रीरों और तहरीरों से आम जनता और खास तौर पर मुसलमानों के बीच प्रचार करते रहे। हाजी इमदादुल्ला साहब एक इनक़लाबी नेता होने के साथ साथ उँचे दर्जे

के सूफ़ी और फ़क़ीर भी थे। उनकी ज़बान में जादू का असर था। वह जिससे मिलते उस पर गहरा असर डालते थे। नतीजा यह हुआ कि सन् १८५७ में आज़ादी की लड़ाई शुरू होते ही हज़ारों मुसलमान उनके झंडे के नीचे जमा हो गए। उनके तमाम शागिर्दों ने और दिल्ली के मदरसे के सब पुराने तालिबइल्मों ने अपनी अपनी जगह से उस आज़ादी की लड़ाई के लिये काफ़ी रंगरूट दिये और जब तक लड़ाई चलती रही तब तक उसमें आगे बढ़ कर हिस्सा लेते रहे। हाजी इमदादुल्ला साहब खुद भी इस मौक़े पर सिर्फ़ वाज़ (उपदेश) और तक़रीरों तक ही नहीं रहे बल्कि शामली के मोर्चे पर एक सिपहसालार की हैसियत से हिस्सा लेकर उन्होंने यह दिखा दिया कि वह जितने जोश के साथ तक़रीर और तहरीर के मैदान में उतरते थे उतनी ही क़ाबलियत के साथ लड़ाई के मैदान में भी अपने जौहर दिखा सकते थे। शामली की सन् ५७ की लड़ाई में उनके चारों साथी मौलाना अब्दुलग़नी साहब, मौलाना मुहम्मद या.कूब साहब, मौलाना मुहम्मद क़ासिम साहब और मौलाना रशीद अहमद साहब गंगोही अपने इस इमाम के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर लड़ रहे थे।

हाजी इमदादुल्ला साहब ने इस मौक़े पर एक बार फिर यह कोशिश की कि मौलाना विलायत अली और उनके साथी भी इस आज़ादी की जंग में शरीक हो जायँ और उनके ज़रिये सरहद के पठानों की मदद भी मिल जाय। इसके लिये उन्होंने अपने कुछ शगिर्दों को सरहद की तरफ़ भेजा लेकिन पंजाब के चीफ़ कमिश्नर सर जान लारेन्स ने सरहद के कुछ मुल्लाओं को पहिले से ही रिश्वतें देकर अपनी तरफ़ मिला लिया था। यह मुल्ला बराबर इस बात का प्रचार करते रहे कि 'यह लड़ाई कभी कामयाब नहीं हो सकेगी। असल लड़ाई तो तब शुरू होगी जब सय्यद

अहमद साहब बरेलवी फिर से ज़ाहिर होंगे।' इस प्रचार ने हाजी इमदादुल्ला साहब की कोशिश को नाकाम कर दिया। अलबत्ता पेशावर और होती मरदान की छावनियों में रहने वाली कुछ पठान पलटनों ने इस लड़ाई में शरीक होने की कोशिश ज़रूर की पर व़क्त से पहिले ही अंग्रेज़ों को उनके इरादों का पता चल गया। उनसे हथियार रखवा लिये गए और उनमें से एक बड़ी तादाद को तोपों के मुंह से उड़वा दिया गया।

धीरे धीरे सन् सत्तावन की यह आग ठंडी पड़ने लगी। अंग्रेज़ों ने तमाम हिन्दुस्तान में इसका सख़्त बदला लेना शुरू किया। इस बदले के शिकार ख़ास तौर पर मुसलमान हुए क्योंकि उन्होंने सन् १८५७ की जंग में सब से ज़्यादा हिस्सा लिया था। अंग्रेज़ इस बात से इतने चिढ़ गए थे कि हज़ारों ही आदमियों को सिर्फ़ मुसलमान होने के क़सूर में फाँसी पर चढ़ा दिया गया, या इस लिये मार डाला गया कि दाढ़ी रखने की वजह से वह मुसलमान मालूम होते थे। इन लोगो मे भी वलीउल्लाही जमात के काम करने वालों को खोज-खोजकर मिटाने और बरबाद करने की कोशिश की गई। हाजी इमदादुल्ला साहब और उनके साथियो को ख़ास तौर पर गिरफ़्तार करने की कोशिश की गई, लेकिन रशीद अहमद साहब गंगोही के सिवा और कोई गिरफ़्तार नहीं किया जा सका!

हाजी इमदादुल्ला साहब ने इन तमाम बातो पर एक बार फिर ग़ौर किया। इतनी बड़ी और मुल्क भर में फैली हुई कोशिश की नाकामी ने उनके दिल को बड़ा सदमा पहुँचाया। उनके हज़ारों शागिर्द और साथी फांसी पर चढ़ा दिये गए थे या फ़रार रहकर अंग्रेज़ो के पंजों से अपनी हिफ़ाज़त करते फिरते थे। फिर भी एक सच्चे क्रान्तिकारी की तरह ऐसी

हालत में भी उन्होंने हिम्मत न हारी। अपने साथियों से सलाह मशविरा करने के बाद उन्होंने हिन्दुस्तान का काम मौलाना मुहम्मद क़ासिम साहब पर छोड़ा और ख़ुद मौलाना मुहम्मद याक़ूब साहब और मौलाना अब्दुलग़नी साहब के साथ छिपते छिपते मक्का जा पहुँचे।

मक्का में पहुँचने के बाद हाजी इमदादुल्ला साहब ने हिन्दुस्तान में अपने किये हुए संगठन को फिर से जमाने की कोशिश की। इसके लिये वह बराबर हिन्दुस्तान में मौलाना मुहम्मद क़ासिम साहब के पास हिदायतें भेजते रहे। इस वक़्त सबसे बड़ी मुशकिल यह थी कि मौलाना मुहम्मद क़ासिम साहब के नाम भी वारंट था। इसलिए कुछ दिनों तक इस काम में कोई ख़ास सरगर्मी नहीं दिखाई दी। बरसों बाद आम माफ़ी का ऐलान होने पर हाजी रशीद अहमद साहब गंगोही छूट कर आ गए। अब मौलाना क़ासिम साहब को एक साथी मिल गया। उस वक़्त हिन्दुस्तान की हालत यह थी कि लोग अंग्रेज़ के ख़िलाफ़ सोचने से भी डरते थे। जगह जगह जासूसों का जाल फैला हुआ था। मुसलमान मौलवियों पर ख़ास तौर पर नज़र रक्खी जाती थी। सन् सत्तावन के बाद अंग्रेज़ों के ज़ुल्म की याद लोगों के दिलों में ताज़ा थी। उसने दिलों में डर बैठा दिया था।

सब हालत पर ग़ौर करने के लिये वलीउल्लाही जमात के तमाम ख़ास ख़ास नेता हेजाज़ में जमा हुए और बहुत ग़ौर करने के बाद हाजी इमदादुल्ला साहब की राय से यह तय पाया कि जिस तरह सबसे पहिले इमाम शाह वलीउल्लाह साहब ने मदरसे के ज़रिये अपने असूलों और ख़यालों का प्रचार किया था, उसी तरह मुसलमानों में फैली हुई मौजूदा कम हिम्मती और उनमें अंगरेज़ी सल्तनत व अंगरेज़ी तहज़ीब के बढ़ते हुए असर का मुक़ाबला करने के लिये फिर से एक मदरसा क़ायम किया जाय। यह भी

तय हुआ कि यह मदरसा किसी ऐसी मामूली जगह क़ायम हो जहाँ वह अंगरेज़ों की नज़र से बचा रह सके।

इस फ़ैसले को अमल में लाने की ज़िम्मेदारी मौलाना मुहम्मद क़ासिम साहब पर दी गई और रशीद अहमद साहेब गंगोही उनके नायब बनाए गए।

इसके बाद हाजी इमदादुल्ला साहब सन् १३१७ हिजरी यानी क़रीब १८९७ तक ज़िन्दा रहे और अपने गुरू शाह मुहम्मद इसहाक़ साहब की तरह मक्का से ही इस इनक़लाबी जमात को मदद पहुँचाते रहे। जो मुसलमान हज्ज के लिये मक्का पहुँचते थे उनके ज़रिये हाजी इमदादुल्ला साहब अपना ताल्लुक़ हिन्दुस्तान से बनाए रखते थे और यहाँ के लिये हिदायतें वग़ैरा भेजते रहते थे। उनके आख़िरी शागिर्दों में अब सबसे मशहूर मौलाना हुसैन अहमद साहब मदनी हैं, जो वलीउल्लाही जमात के मौजूदा इमाम और आज़ादी की लड़ाई के एक जाने माने हुए बहादुर सिपहसालार हैं।

इस तरह सन् १३१७ हिजरी की किसी तारीख़ को ८४ साल की उमर में हिन्दुस्तान का यह बहुत बड़ा सूफ़ी, बहुत बड़ा फ़क़ीर, बहुत बड़ा क्रान्तिकारी, बहुत बड़ा आलिम और वलीउल्लाही जमात का चौथा इमाम मौत की गोद में जा सोया। मरते मरते भी उनके दिल में अपने वतन की एक झलक देखने की हसरत थी, पर साथ ही यह तसल्ली थी कि कम से कम ब्रिटिश झंडा उनके सर पर नहीं उड़ रहा है।

# मौलाना मुहम्मद क़ासिम

सन् १८५७ की आज़ादी की लड़ाई नाकामयाब हो जाने के बाद वलीउल्लाही संगठन के चौथे नेता हाजी इमदादुल्ला साहब मक्का के लिये रवाना हो गये। मक्का जाने से पहले उन्होंने हिन्दुस्तानी मुसलमानों में मुल्क की आज़ादी के लिये लड़ने और संगठित होने के असूलों का प्रचार करने का काम मौलाना मुहम्मद क़ासिम साहब को सौंपा। उस वक़्त मौलाना मुहम्मद क़ासिम साहब के सामने ऐसी दिक़्क़तें थीं, जिनका पूरा-पूरा ख़याल भी इस वक़्त नहीं किया जा सकता।

उनकी सबसे पहली और सबसे बड़ी दिक़्क़त तो यह थी कि सन् १८५७ के इन्क़लाब में हिस्सा लेने के जुर्म में सरकारी जासूस हाथों में फांसी का फ़न्दा लिये जगह-जगह उनकी मौजूदगी सूँघते फिरते थे। मौलाना को फांसी का डर तो न था, क्योंकि अगर डर होता तो वह हाजी इमदादुल्ला साहब के साथ ही मक्का जा सकते थे। लेकिन वह ज़िन्दा रहना चाहते थे जिससे कि इस तहरीक को, जो पिछले क़रीब डेढ़ सौ बरस से चलती आ रही थी और जिसको शाह वलीउल्लाह साहब से लेकर हाजी इमदादुल्ला साहब के ज़माने तक बड़े-बड़े देशभक्तों ने अपने ख़ून से सींचा था, किसी तरह आगे भी ज़िन्दा रख सकें। वह यह भी जानते थे कि हाजी इमदादुल्ला साहब का मक्का चला जाना ही ठीक है। क्योंकि ज़्यादा मशहूर होने की वजह से उनके जल्द पकड़े जाने का ख़तरा है और बाक़ी के साथियों में मैं ही ऐसा हूँ जो इस तहरीक को, जो इस वक़्त क़रीब-क़रीब बिल्कुल ही ख़त्म हो चुकी है, फिर से ज़िन्दा करने के लिये कुछ काम कर सकता हूँ। यह वलीउल्लाही संगठन और उसके नेताओं की ईमानदारी का एक बड़ा सबूत है कि ऐसे वक़्त में भी उनके निज़ाम में किसी तरह

की फूट नहीं पड़ी। तहरीक के इमाम ने जिससे यह कहा कि वह उनके साथ मक्का चले, वह चला गया और जिससे यह कहा कि वह हिन्दुस्तान में ही रहे, वह हिन्दुस्तान में ही रहा। मौलाना मुहम्मद क़ासिम साहब के सामने एक दूसरी दिक़्क़त यह थी कि सन् १८५७ की नाकामयाबी और उसके बाद के अंगरेज़ों के ज़ुल्मों ने मुसलमानों में बड़ी पस्त हिम्मती पैदा कर दी थी। एक आम ख़याल यह पैदा हो गया था कि अंगरेज़ों की ताक़त इतनी बड़ी है कि उनसे लड़ने का ख़याल करना अपनी व क़ौम की बरबादी को न्योता देना है। इसी से यह भी ख़याल पैदा हुआ कि जब अंगरेज़ों से इस वक़्त लड़ना नहीं है और उनकी हुकूमत में ही रहना है तो क्यों न उनसे ज़्यादा से ज़्यादा रियायतें हासिल की जायँ और उनके दिल में यह बात बैठा दी जाय कि मुसलमान क़ौम अब अंगरेज़ों की उतनी ही वफ़ादार है जितनी हिन्दुस्तान की दूसरी क़ौमें। इसलिए मुसलमान नौजवानों को भी तालीम और नौकरियों में दूसरी क़ौमों की तरह हिस्सा मिलना चाहिये।

ऐसा ख़याल रखने वालों में कुछ ऐसी बड़ी-बड़ी हस्तियाँ भी थीं जो अपने ऊँचे चाल चलन और क़ाबलियत की वजह से मुसलमानों पर बहुत असर रखती थीं। इस ख़याल के लोगों में सबसे बड़ी हस्ती सर सय्यद अहमद ख़ाँ साहब की थी, जो मौलाना ममलूक अली के शागिर्द होने की वजह से मौलाना क़ासिम साहब के गुरु भाई होते थे। सर सय्यद अहमद साहब सन् १८५७ के इनक़लाब से पहिले ही अंगरेज़ों की नौकरी में आ चुके थे और अंगरेज़ों के रहन-सहन व उनके काम करने के ढंग का उन पर गहरा असर पड़ा था। सन् ५७ के इनक़लाब के बाद अंगरेज़ों ने दिल्ली में जो क़त्ले आम किया था, उसमें सर सय्यद अहमद साहब के एक सगे चचा मारे गए थे और उनकी बूढ़ी माँ को एक नौकर के घर में छिप कर जान बचानी पड़ी थी। जैसा कि सभी जानते हैं, सर सय्यद अहमद साहब ने ग़दर के वक़्त अपनी जान ख़तरे में डालकर भी कई

अंगरेज़ों की जान बचाई थी। इसलिये जब अंगरेज़ी फ़ौजों के ज़रिये अपने ख़ानदान की इस बरबादी का हाल उन्होंने सुना, तो इसका असर उन पर पड़ना लाज़मी था। उस ज़माने में उनकी लिखी मशहूर किताब 'असबाबे बग़ावत' में हम इस असर को आसानी से महसूस कर सकते हैं। लेकिन जल्द ही वह दूसरे ख़यालों में बह चले। उस व़क्त सरकारी नौकरियों से मुसलमानों को अलग रखने की अंगरेज़ों की पालिसी ने उनके दिल पर गहरा असर डाला और उन्होंने महसूस किया कि इस तरह हिन्दुस्तान के मुसलमानों को गहरा धक्का लगेगा और वह तालीम व दूसरी चीज़ों में हिन्दुस्तान की दूसरी क़ौमों से बुरी तरह पिछड़ जावेंगे। इससे बचने का उन्हें सिर्फ़ एक ही रास्ता सूझा कि मुसलमानों के दिलों से अंगरेज़ों और अंगरेज़ी तहज़ीब के लिये जो नफ़रत है वह निकाल दी जाय और अंगरेज़ों के दिल से भी मुसलमानों के बाग़ी होने का ख़याल मिटा दिया जाय।

सर सय्यद अहमद साहब अपने अक़ीदे के सच्चे, मेहनती और क़ौम की सच्ची भलाई चाहने वाले थे। उनके दिल में अपनी क़ौम के लिये उतना ही दर्द और उसकी तर क़्की के लिये क़ुर्बानी करने का वैसा ही जज़्बा था, जैसा मौलाना क़ासिम साहब के दिल में था। दोनों एक ही उस्ताद के शागिर्द थे। फिर भी दोनों का रास्ता न सिर्फ़ एक दूसरे से अलग बल्कि एक दूसरे के ख़िलाफ़ था। एक को अंगरेज़ों की हर एक चीज़ में नई रोशनी और ख़ूबी ही ख़ूबी नज़र आती थी, तो दूसरे को अंगरेज़ों की छाया से भी नफ़रत थी। एक अंगरेज़ों की वफ़ादारी में ही क़ौम और मुल्क की तर क़्की देखता था, तो दूसरे के लिये अंगरेज़ों की मुख़ालफ़त न करना अपने ईमान को धोका देना था। यह इस बात की जीती जागती मिसाल है कि कभी कभी एक ही मक़सद होते हुए भी दो निहायत सच्चे और निहायत क़ाबिल इनसानों में भी कितना गहरा फ़रक़ और विरोध हो सकता है।

इस तरह मुहम्मद क़ासिम साहब के सामने दूसरी बड़ी मुशकिल यह थी कि सन् ५७ के इनक़लाब की नाकामयाबी की वजह से पस्तहिम्मत मुसलमानों में अंगरेज़ों के लिये वफ़ादारी रखने और उनकी तहज़ीब को अपनाने का प्रचार जारी हो चुका था। इस प्रचार में अंगरेज़ हर तरह से भारी मदद दे रहे थे! दूसरी तरफ़ एक के बाद दूसरी साज़िशों के मुक़दमे चला कर अंगरेज़ सरकार मुसलमान मौलवियों और आलिमों को लम्बी लम्बी सज़ाएँ देकर काले पानी भेज रही थी। ऐसी हालत में मौलाना मुहम्मद क़ासिम साहब के सामने यह सवाल पेश था कि इन चीज़ों का मुक़ाबला किस तरह किया जावे और मुसलमानों को वलीउल्लाही जमात के झंडे के नीचे लाकर उनमें आज़ादी के ख़याालात कैसे पैदा किये जायँ?

कुछ दिनों बाद जब हेजाज़ से हाजी इमदादुल्ला साहब ने किसी मामूली सी जगह पर एक मज़हबी मदरसा क़ायम करने की स्कीम मौलाना क़ासिम साहब को भेजी, तो उनको अँधेरे में थोड़ी रोशनी नज़र आई और सन् १८५७ के इनक़लाब के सिर्फ़ १० बरस बाद यानी सन् १८६७ में अरबी तारीख़ १५ मुहर्रम १२८३ हिजरी को सहारनपुर से २२ मील दूर देवबन्द जैसे एक निहायत मामूली क़स्बे में उन्होंने 'दारुल-अलूम' (इल्म का घर) के नाम से एक मज़हबी मदरसा क़ायम कर दिया। इस मदरसे को क़ायम करने में मौलाना क़ासिम साहब के अलावा उनके पुराने साथी हाजी रशीद अहमद साहब गंगोही का, जो ग़दर में हिस्सा लेने के जुर्म में फाँसी पाते पाते बचे थे, ख़ास हाथ था। उनके अलावा मौलाना महताब अली साहब और उनके भाई मौलाना ज़ुलफ़िक़ार अली साहब ने भी इस काम में पूरी मदद की थी।

मौलाना क़ासिम साहब ने जब यह मदरसा क़ायम किया, तब न उनके पास पैसा था और न कोई पैसे वाला मददगार ही था। आम

लोगों का हाल यह था कि वह उनसे बातें करते भी डरते थे, फिर मदद कौन करता ? मदरसे के सब से पहिले तालिबइल्म मौलाना महमूदुलहसन थे, जो आगे चल कर मौलाना क़ासिम साहब के सच्चे जानशीन, और वलीउल्लाही जमात के छटे इमाम बने।

शुरू में दरख़्तों के साये में पढ़ाई शुरू हुई। उस वक़्त कौन यह जानता था कि यह जो दो चार लड़के एक बूढ़े से मौलवी के आगे बैठे हुए कलामे पाक को हिल हिलकर पढ़ रहे हैं और यह मदरसा जिसमें धूप और बारिश से बचाव के लिये एक छत तक नहीं है, कुछ बरसों के बाद ही मुल्क की आजादी के सिपाहियों की एक ख़ास छावनी और न सिर्फ़ हिन्दुस्तान बल्कि दुनिया भर के इस्लामी मदरसों में एक ख़ास मदरसा बन जावेगा।

इसके कुछ दिन बाद ही सर सय्यद अहमद साहब ने अलीगढ में मुसलिम नौजवानों को अंगरेज़ी तालीम देने के लिये एक कालेज खोलना तय किया। उसमें पढ़ाने के लिये विलायत से अंगरेज़ प्रोफ़ेसर बुलवाए गए। सर सय्यद अहमद साहब की ख़्वाहिश थी कि कालेज की इस तहरीक में मौलाना क़ासिम साहब भी शरीक हो जायँ मगर क़ासिम साहब ने इसमें शरीक होने से इन्कार कर दिया। इस बारे में सर सय्यद अहमद साहब और उनके साथियों व मौलाना क़ासिम साहब में जो लम्बी ख़तकिताबत चली, वह 'तस्फ़ीयतुल अक़ायद' के नाम से एक किताब की शकल में निकल चुकी है। उस किताब से यह मालूम होता है कि मौलाना क़ासिम साहब उस ज़माने में भी, जब कि किसी मुसलमान मौलवी के लिये अंगरेजों की अमलदारी की नुक्ताचीनी करना भी काले पानी की सज़ा को न्योता देना था, कितनी निडरता से अपने विचार और अक़ीदे को ज़ाहिर कर सकते थे।

इस ज़माने में मौलाना क़ासिम साहब और उनके साथियों के ख़िलाफ़ काफ़ी ग़लतफ़हमियाँ फैलाई गईं। अंगरेज़ी सल्तनत की तरफ़

से इन लोगों को एक अर्से से वहाबी मशहूर तो कर ही दिया गया था, साथ ही साथ इनको रजअत पसन्द (प्रतिक्रिया वादी), लकीर के फ़क़ीर, मुल्क व क़ौम के दुशमन और अंगरेज़ों की सल्तनत के बाग़ी भी क़रार दिया गया। सच बात यह थी कि सिवा आख़िरी इलज़ाम के बाक़ी सब बिलकुल बे बुनियाद थे। और आख़िरी इलजाम पर तो उनको ख़ुद भी एतराज़ नहीं था।

मौलाना क़ासिम साहब इस प्रचार से ज़रा भी नहीं घबराए। वह जानते थे कि जब कोई क़ौम इस तरह कुचल दी जाती है तब उसके ख़यालों में बड़ी उलझन पैदा हो जाती है और बहुत बार वह अपनी भलाई चाहने वालों की ही दुशमन हो जाती है। उन्होंने इन बातों की परवाह न करके चुपचाप अपना काम जारी रक्खा। इसका नतीजा यह हुआ कि देवबन्द का यह मदरसा जो सिर्फ़ तीन चार तालिबइल्मों से शुरू हुआ था, दिनो दिन तरक़्क़ी करता गया और तमाम हिन्दुस्तान व हिन्दुस्तान से बाहर के इसलामी मुल्कों से भारी तादाद में तालिबइल्म वहाँ आने लगे। जब इस तरह मदरसे की तरक़्क़ी होने लगी और उसका असर मुसलमानों पर बढ़ता गया, तो कुछ ऐसे लोग भी, जिनको अभी तक मदरसे के पास आने में भी दहशत होती थी, मदरसे के काम में हाथ बँटाने लगे। उनकी तरफ़ से यह सुझाव भी पेश किया जाने लगा कि अब मदरसे के लिये सरकारी मदद भी हासिल करने की कोशिश की जाय और इस तरह मदरसे की माली हालत मज़बूत बना दी जाय।

मौलाना क़ासिम साहब ने ऐसे लोगों की हमदर्दी और उनके सुझाओं के ख़तरों को झट पहिचान लिया। चूंकि मदरसा किसी के ज़ाती इख़्तियार में नहीं था, इसलिए वह मदरसे के काम में किसी को हिस्सा लेने से रोक तो नहीं सकते थे। लेकिन वह यह भी बर्दाश्त नहीं कर सकते थे कि इस तरह मदरसा सिर्फ़ लड़कों को किताबी तालीम देने वाला एक मदरसा बन कर रह जाय और अपने सच्चे असूलोंको भूल जाय। इस ख़तरे से

मदरसे को बचाने के लिये उन्होंने कुछ क़ायदे बनाये, जो उनके क्रान्तिकारी विचारों को बिलकुल साफ़ ज़ाहिर करते हैं। यह क़ायदे रिसाला अलक़ासिम १३४७ हि० के दारुलउलूम नम्बर में शाया हुए थे और उसी से उनका कुछ हिस्सा यहाँ नक़ल किया जाता है—

(१) आज़ादी ज़मीर ( विचारों की आज़ादी ) के साथ मौक़े पर कल्मतुल हक़ (सच्चाई ) का एलान हो। कोई सुनहरी तमओं (लालच) और मुरब्बियाना दबाव (बड़प्पन का दबाव ) या सर परस्ताना मराआत (रक्षा करने वालों की तरफ़ से दी हुई रियायतें ) उसमें हायल न हों (रुकावट न डालें)।

(२) इसका ताल्लुक़ आम मुसलमानों के साथ ज़ायद से ज़ायद हो, ताकि यह ताल्लुक़ ख़ुद ब ख़ुद मुसलमानों में एक नज़्म (संगठन ) पैदा कर दे जो उनको इस्लाम और मुसलमानों की शान पर क़ायम रखने में मुईन (सहायक ) हो।

इन दोनों क़ायदों से यह साफ़ मतलब निकलता है कि मौलाना क़ासिम साहब के नज़दीक इस मदरसे की सबसे बड़ी अहमियत सिर्फ़ यह थी कि इसके ज़रिये तमाम मुसलमानों में उसी तरह से एक संगठन पैदा हो सके जिस तरह शाह वलीउल्लाह ने अपने दिल्ली के मदरसे के ज़रिये पैदा किया था। वह नहीं चाहते थे कि कुछ बड़े बड़े रईस और नवाब अपने पैसे के बल से इस मदरसे पर छा जायँ और उसके असली असूलों को कुचल दें। उनके इस ख़याल का दूसरा सबूत उस वसीयत से मिलता है, जो उन्होंने मरते वक़्त की थी। अपनी इस वसीयत में उन्होंने मदरसे की बाबत लिखा था—

'इस मदरसे में जब तक आमदनी की सबील ( ज़रिया ) यक़ीनी नहीं है, तब तक यह मदरसा इन्शाअल्ला (अगर ख़ुदा ने चाहा) इसी तरह चलता रहेगा और अगर कोई आमदनी यक़ीनी ऐसी हासिल हो गई जैसे जागीर या कारख़ाना, तिजारत या किसी अमीर का वादा तो फिर यों

नज़र आता है कि यह ख़ौफ और रिजा जो सरमायए रुजूइल्लाह है (परमात्मा के नाम पर निछावर है) वह हाथ से जाता रहेगा और कार कुनों (काम करने वालों) मेनिजाअ (झगड़ा) पैदा हो जावेगा। अल-क़िस्सा (सारांश यह है कि) आमदनी और तामीर वग़ैरा में एक नौअ (तरह) की बे सरो सामानी मलहूज रहे (गरीबी का ध्यान रक्खा जाए)।

२—सरकार की शिरकत (शामिल होना) व उमरा (अमीरों) की शिरकत भी ज्यादा मुजिर (नुकसान पहुँचाने वाली) मालूम होती है।

३—ता मकदूर (जहाँ तक हो सके) ऐसे लोगों का चन्दा ज़्यादा मूजिबे बरकत (बरकत देने वाला) मालूम होता है जिनको अपने चन्दे से उम्मीदे नामवरी न हो (नाम की इच्छा न हो)। फिल जुमला (आख़िर-कार) हुस्नेनीयत अहले चन्दा (चन्दा देने वालो की अच्छी नीयत) ज्यादा पायदारी (मजबूती) का सामान मालूम होती है।

यह वसीयत एक ऐसा क्रांतिकारी दस्तावेज है, जिससे हिन्दुस्तान की अगली पीढियाँ हमेशा एक रोशनी हासिल करती रहेगी। इसके एक एक लफ्ज से यह जाहिर होता है कि मौलाना कासिम साहब कितने बड़े इनक़-लाबी और मुल्क की आजादी के कितने सच्चेदीवाने थे। उन्हे सिर्फ चाह थी तो यह कि किसी तरह उनकी क़ौम फिर से संगठित होकर आज़ादी के मैदान मे आ खड़ी हो। सन् १८७८ तक यानी अपनी ज़िन्दगी की आख़िरी घड़ियों तक वह बराबर इसी काम में लगे रहे।

मौलाना क़ासिम साहब नानौत जिला सहारनपुर के रहने वाले थे। उनके वालिद का नाम मौलना असद अली था। उन्होंने हाजी इमदा-दुल्ला साहब और मुफ्ती सदरुद्दीन साहब से तालीम हासिल की थी। मुफ्ती सदरुद्दीन अपने ज़माने के एक बहुत बड़े आलिम और वलीउ-ल्लाही जमात के दूसरे इमाम शाह अब्दुल अज़ीज़ साहब के शागिर्दों में से थे। मुफ्ती साहब के एक दूसरे मशहूर शागिर्द मौलाना अबुल कलाम आज़ाद के पिता शैख़ मुहम्मद ख़ैरुद्दीन साहब थे। इनके अलावा

मौलाना क़ासिम साहब ने कुछ दिनों तक मौलाना ममलूक अली साहब से भी पढ़ा था।

वलीउल्लाही जमात के इमामों में मौलना क़ासिम साहब इसलिये एक ख़ास अहमियत रखते हैं कि एक तरह से इस संगठन की बुनियाद उनको फिर से जमानी पड़ी और वह भी उस हालत में जब कि ज़ुल्म का तूफ़ान जारी था। वह एक अजीब हिम्मत के आदमी थे जो बिलकुल नाउम्मीदियों के अँधेरे में भी रोशनी की कोई न कोई किरन पैदा कर लेते थे। सन् ५७ के बाद मुसलमानों में अंगरेज़ी अमलदारी के ख़िलाफ़ एक संगठन बनाए रखना उनका ही काम था। वह सबसे ऊपर मुल्क की आज़ादी को जगह देते थे और इसके लिये सब कुछ क़ुरबान कर सकते थे।

सन् १८७८ में उनकी मौत के वक़्त वलीउल्लाही जमात के संगठन की नींव फिर से काफ़ी जम चुकी थी। इसके लिये अब एक ऐसे आदमी की ज़रूरत थी जो उनके बाद इस काम को सँभाल ले। मौलाना क़ासिम साहब की निगाह तो इस सिलसिले में दारुलउलूम के सबसे पहिले विद्यार्थी मौलाना महमूदुलहसन पर थी, जो अपनी तालीम पूरी करके मदरसा देवबन्द में ही मुदर्रिस हो गए थे। लेकिन अभी उनकी उम्र थोड़ी ही थी इसलिये कुछ दिनों के लिये यह बोझ हाजी रशीद अहमद साहब गंगोही ने सँभाला। रशीद अहमद साहब ऐसे बे धड़क आदमी थे कि जब मौलाना सादुद्दीन साहब काश्मीरी और मौलना अमानुल्ला साहब ने उनसे हिन्दुस्तान के दारुल हरब होने की बाबत पूछा, तो उन्होंने यह फ़तवा दे दिया कि हिन्दुस्तान दारुल हरब है। इसका साफ़ मतलब यह था कि अंगरेज़ों से लड़ाई जारी है और हर एक मुसलमान का यह मज़हबी फ़र्ज़ है कि इस लड़ाई में पूरा हिस्सा ले।

हाजी रशीद अहमद साहब सन् १९०५ तक ज़िन्दा रहे। उनके बाद मौलाना महमूदुलहसन साहब ने वलीउल्लाही जमात की इमामत का बोझ सँभाला।

# हाजी रशीद अहमद गंगोही

सन् १८७८ ईसवी में वलीउल्लाही जमात के पांचवें इमाम मौलाना मुहम्मद क़ासिम साहब का इन्तक़ाल हो जाने पर जब इस संगठन को एक नए नेता की ज़रूरत हुई तो सब की नज़र मौलाना महमूदुल हसन साहब पर पड़ी। मौलाना महमूदुलहसन वलीउल्लाही जमात के नए मरकज़ मदरसा देवबन्द के पहिले विद्यार्थी थे। वलीउल्लही संगठन के असूल और इरादों की पूरी पूरी तालीम इनको ख़ास तरीक़े पर, मौलाना क़ासिम साहब ने दी थी। इस तालीम की ही बदौलत मौलाना महमूदुल हसन साहब ने अपनी पढ़ाई के ज़माने से ही मुल्क की आज़ादी के लिये तजवीज़ें सोचना और उन पर काम करना शुरू कर दिया था। अपनी दूरन्देशी, निडरपन और पाक साफ़ चाल चलन की वजह से अपने हल्क़े में वह बहुत इज़्ज़त की निगाह से देखे जाते थे, इस लिये उनको इमाम बनाने और मानने में इनकार किस को होता? लेकिन वह ज़माना बहुत नाज़ुक था। सन् १८५७ की लड़ाई की नाकामयाबी और उसके बाद होने वाले भयानक ज़ुल्मों ने बड़ों बड़ों के हौसले पस्त कर दिये थे। ख़ासकर मुसलमानों में तो लोग सियासत तो क्या मज़हबी बातों की चर्चा करने में भी डरते थे। इस हालत से फ़ायदा उठा कर कुछ मौक़ा परस्तों ने इस-लाम के नाम पर नई नई बातों को गढ़ना और फैलाना शुरू कर दिया था, यहाँ तक कि अंगरेज़ और अंगरेज़ी राज के लिये वफ़ादारी भी इसलाम के असूलों में शरीक कर ली गई थी।

यह हालत मजबूर करती थी कि इस वक़्त वलीउल्लाई जमात की कमान किसी ऐसे आदमी के हाथ में हो, जिसको इस संगठन से बाहर के

भी मुसलमान जानते और मानते हों और जिसकी राय व फ़ैसले की तमाम हिन्दुस्तान के मुसलमानों में वक़अत हो, और साथ ही साथ जिसमें मुल्क की आज़ादी के लिये सच्ची तड़प हो और जो मुसलमानों में अंगरेज़ों की वफ़ादारी का प्रचार करने वालों का हिम्मत के साथ मुक़ाबला कर सके।

इन तमाम बातों को ध्यान में रख कर फ़ैसला किया गया कि अभी कुछ दिनों तक हाजी रशीद अहमद साहब गंगोही पर इमामत का यह बोझ डाला जाय। हाजी रशीद अहमद साहब गंगोही ज़िला सहारनपुर के रहने वाले थे। उनकी पूरी उम्र ही वलीउल्लाही संगठन के असूलों को समझने और उन पर अमल करने में बीती थी। इसकी वजह यह थी कि गंगोही साहब के वालिद जनाब हिदायतुल्ला साहब अंसारी एक सच्चे और दीनदार मुसलमान थे। वह चाहते थे कि मेरा बेटा बड़ा होकर मुल्क और क़ौम की ख़िदमत करे। इस लिये उन्होंने गंगोही साहब को बहुत छोटी उम्र में ही पढ़ने के लिये देहली भेज दिया था, जहाँ वह वलीउल्लाही संगठन के एक ख़ास नेता मौलाना ममलूकअली साहब से पढ़ते थे और मज़हबी तालीम के साथ-साथ उस ज़माने की सियासत और अंगरेज़ों की राजकाजी चालबाज़ियों को भी समझने की कोशिश करते थे। इसी ज़माने में उनकी जान पहचान मौलाना मुहम्मद क़ासिम साहब से हुई, जो इसी मदरसे में पढ़ते थे और रशीद अहमद साहब की ही तरह अपने तेज़ ज़ेहन के लिये मदरसे भर में मशहूर थे।

इस मदरसे की तालीम का रशीद अहमद साहब और मौलाना क़ासिम साहब पर बहुत गहरा असर पड़ा और पढ़ाई से फ़ारिग़ होने से पहिले ही दोनों ने मुल्क की अज़ादी के लिये काम करना शुरू कर दिया। इस ज़माने में दिल्ली का यह मदरसा मुल्क भर के इनक़लाबियों का एक ख़ास मरकज़ बना हुआ था। इनक़लाबियों के सबसे बड़े नेता

हाजी इमदादुल्ला साहब थे, जो रशीद अहमद साहब व मौलाना क़ासिम साहब के भी उस्ताद रह चुके थे। हाजी इमदादुल्ला साहब चाहते थे कि वलीउल्लाही संगठन को जल्दी से जल्दी अगरेज़ो के ख़िलाफ़ जंग का ऐलान कर देना चाहिये। इसके लिये उन्होंने एक जंगी कमेटी भी बना ली थी, जिसमें हाजी इमदादुल्ला साहब के अलावा मौलाना अब्दुलग़नी, मौलाना मुहम्मद या.कूब, रशीद अहमद साहब और मौलाना क़ासिम साहब भी थे। कुछ दिनों के बाद जब हाजी इमदादुल्ला साहब को वालीउल्लाही जमात का चौथा इमाम चुना गया, तो यही चार आदमी उनके वजीर मुकर्रर किये गए। इससे ज़ाहिर होता है कि क़ासिम साहब की तरह हाजी रशीद अहमद साहब ने भी कितनी जल्दी वलीउल्लाही संगठन में अपने लिये यक़ीन पैदा कर लिया था।

इसके बाद कुछ दिनों तक रशीद अहमद साहब जगह-जगह घूम कर आम जनता में बेदारी पैदा करते रहे। उनको मज़हबी बातों की बड़ी गहरी जानकारी थी। हदीस में तो उनका लोहा बड़े बड़े आलिम भी मानते थे। उनकी अमली जिन्दगी भी बड़ी पाक साफ़ थी। निहायत सादगी का रहन-सहन, सबसे मीठा बर्ताव, ग़रीब व अमीर सबको एक नज़र से देखना और मुल्क के काम से जो व.क़ बचे उसे .खुदा की याद में लगाना, यह सब ऐसी बातें थीं जो उनकी जान पहिचान में आने वाले हर एक इनसान पर गहरा असर डालती थीं। इसी से जब वह मुल्क का दुख दर्द बयान करते थे तो सुनने वालों पर पूरा पूरा असर पड़ता था और उनके दिलों में आज़ादी के लिये कुछ करने की ख़्वाहिश पैदा होने लगती थी। इस तरह रशीद अहमद साहब ने अपने प्रचार से हज़ारों आदमियों को आज़ादी की लड़ाई का सिपाही बना दिया।

धीरे धीरे सन् १८५७ में वह ज़माना भी आ गया, जिसका इतने दिनों से इन्तज़ार किया जा रहा था. लेकिन वलीउल्लाही संगठन में इस व.क्त कुछ ऐसे लोग भी थे, जो इस इनक़लाब में हिस्सा लेने के

ख़िलाफ़ थे। उनकी दलील यह थी कि यह इनक़लाब उन लोगों की तरफ़ से शुरू किया गया है जो मुल्क में किसी एक आदमी की बादशाहत चाहते हैं, जब कि शाहवलीउल्ला साहब प्रजातंत्र यानी जमहूरियत की हुकूमत चाहते थे, इसलिये इस लड़ाई में हिस्सा लेना अपने असूलों से गिरना है।

इस दलील के ख़िलाफ़ हाजी इमदादुल्ला साहब का यह कहना था कि हम जमहूरियत के आज भी हामी हैं और हमेशा रहेंगे, लेकिन अंगरेज़ों को मुल्क से बाहर निकालने के लिये हमें इस इनक़लाब में पूरी ताक़त से हिस्सा लेना चाहिये। क्यों कि जब तक अंगरेज़ यहाँ पर मौजूद हैं, तब तक न यहाँ जमहूरियत ही क़ायम हो सकती है और न शाह वलीउल्ला साहब के दूसरे असूलों को ही अमल में लाया जा सकता है,

एतराज़ करने वालों को हाजी इमदादुल्ला साहब के इस जवाब से तसल्ली नहीं हुई, क्यों कि उनमें कुछ लोग ऐसे भी थे, जो लड़ाई की मुसीबतें सहने के लिये तैयार नहीं थे। इन लोगों ने इस दलील के बहाने उन मुसीबतों से अपना बचाव कर लिया और वलीउल्लाही संगठन से अलग हो गए। हाजी रशीद अहमद साहब भी चाहते तो इस वक़्त अपना बचाव कर सकते थे, लेकिन वह अपने दोस्त और साथी मौलाना क़ासिम साहब की तरह अपनी जगह पर अडिग रहे और उन्होंने आज़ादी की इस लड़ाई में अमली हिस्सा लेना शुरू कर दिया। अपने उस्ताद और इमाम हाजी इमदादुल्ला साहबके साथ वह भी शामलीके मोर्चे पर अंगरेज़ी फ़ौजों के दाँत खट्टे करते रहे, और तब तक लड़ते रहे, जब तक कि वह लड़ाई में घायल हो जाने की वजह से पकड़ नहीं लिये गए।

जेलख़ाने में रशीद अहमद साहब को बड़ी बड़ी सख़्त तकलीफ़ें सहनी पड़ीं। उस वक़्त लड़ाई में हज़ारों क़ैदी अंगरेज़ों के पास थे, जिनके खाने पीने का इन्तज़ाम उस वक़्त की हालत में न तो हो ही सकता था, और न अंगरेज़ों को उसकी परवाह ही थी।

इन क़ैदियों के मुक़दमे बड़ी जल्दी जल्दी निबटाए जा रहे थे। ज़्यादातर लोगों को फाँसी पर चढ़ा कर ठिकाने लगाया जा रहा था। रशीद अह-मद साहब भी इस बात को जानते थे कि मुझे फाँसी की ही सज़ा मिलेगी। क्यों कि उनके जिस्म पर गोली का निशान इस बात का साफ़ सबूत था कि उन्होंने इस जंग में हिस्सा लिया है। फिर भी न उनको कोई फ़िक्र थी और न कोई अफ़सोस। उन्होंने तो जिस दिन इस राह में क़दम रक्खा था, उसी दिन इस नतीजे को जान लिया था। अफ़सोस तो उनको सिर्फ़ यह था कि आजादी की वह लड़ाई हिन्दुस्तानियों की आपसी फूट की वजह से कामयाब न हो सकी और फ़िक्र भी उनको सिर्फ़ यह थी कि किसी तरह वलीउल्लाही संगठन के कुछ ऐसे ख़ास नेता अंगरेजों के पंजों से बच जायँ, जो इसके बाद भी वलीउल्लाही तहरीक को चलाते रहें और आजादी के झंडे को ऊँचा उठाये रक्खे।

कहा जाता है कि मारने वाले से बचाने वाला बड़ा होता है। ख़ुश-क़िस्मती से रशीद अहमद साहब के साथ भी यही हुआ। उनके मुक़-दमे का नम्बर आने से पहले ही आम माफी का ऐलान हो गया। इस ऐलान के मुताबिक रशीद अहमद साहब भी रिहा हुए। जेल से निकलते ही उन्होने फिर अपना पुराना काम शुरू कर दिया। सबसे पहले उन्होंने यह पता लगाया कि वलीउल्लाही संगठन के कौन कौन से नेता फाँसी के तख़्ते की नज़र हो गए और कौन कोन से बच सके हैं। उनको यह जान कर बहुत ख़ुशी हुई कि संगठन के सब से बड़े नेता हाजी इमदादुल्ला साहब सही सलामत मक्का पहुँच गए हैं और मौलाना क़ासिम साहब भी पकड़े नहीं जा सके हैं।

इसके बाद हाजी रशीद अहमद साहब फौरन मौलाना क़ासिम साहब से मिले और इस बात पर ग़ौर करना शुरू किया कि अब फिर से आज़ादी की लड़ाई किस तरह शुरू की जाय। कुछ ही दिनों में वह हाजी इमदादुल्ला साहब से भी ख़तो किताबत करने में सफल हो गए और अब

वहाँ से बाक़ायदा सलाह मशविरा मिलने लगा। इसी सलाह के मुताबिक़ वलीउल्लाही संगठन फिर से क़ायम किया गया और उसके सबसे बड़े नेता मौलाना क़ासिम साहब चुने गए। इसके बाद सन् १८६७ में देव बन्द का मदरसा भी क़ायम कर दिया गया। उस व़क्त यह मदरसा क़ायम कर लेना भी कोई आसान काम नहीं था। और ख़ास तौर पर किसी ऐसे आदमी का तो इस तरह के कामों में हिस्सा लेना बहुत ही ख़तरनाक था जो बग़ावत के इलज़ाम में गिरफ़तार हो चुका हो। लेकिन रशीद अहमद साहब ने कभी इन बातों की परवाह नहीं की और निहायत निडरता से इन तमाम कामों में आगे बढ़ कर हिस्सा लेते रहे।

देवबन्द का मदरसा क़ायम हो जाने के बाद जब कुछ लोगों ने यह कोशिश की कि देवबन्द का मदरसा अंगरेज़ी सरकार से कुछ रुपये पैसे की मदद माँगे, तो मौलाना क़ासिम साहब के साथ साथ रशीद अहमद साहब ने भी इस बात की सख़्त मुख़ालफ़त की। रशीद अहमद साहब तो देवबन्द के मदरसे को आज़ादी के सिपाहियों की एक ख़ालिस छावनी की शकल में देखना चाहते थे। इसी लिये एक बार उन्होंने यह भी राय ज़ाहिर की थी कि मदरसा देवबन्द में फ़लसफ़े की तालीम देने की कोई ज़रूरत नहीं है। यानी वह चाहते थे कि नौजवानों को सिर्फ़ वही बातें पढ़ाई जावें जो उनमें कैरेक्टर और मज़हब व वतन की मुहब्बत पैदा करने के लिये ज़रूरी हों। वह सिपाही चाहते थे आलिम या पंडित नहीं। मतलब यह कि वलीउल्लाही संगठन में भी अपने ज़माने में वह गरम दल के लोगों में से थे।

सन् १८७८ ईसवी में अपने बचपन के साथी मौलाना क़ासिम साहब का इन्तक़ाल हो जाने से रशीद अहमद साहब को बहुत गहरा धक्का लगा। दोनों ही एक दूसरे को भाई की तरह प्यार करते थे और मुल्क की आज़ादी की लड़ाई में दोनों ने साथ साथ हिस्सा लिया था। दोनों के दिलों में एक दूसरे के लिये यक़ीन और इज़्ज़त

था और ख़ास तौर पर रशीद अहमद साहब तो क़ासिम साहब को अपना नेता भी मानते थे, और उन पर ग़ैर मामूली भरोसा रखते थे। इसलिये क़ासिम साहब के इन्तक़ाल की ख़बर पाते ही रशीद अहमद साहब ने एक ठंडी साँस लेकर कहा था—"सालार क़ाफ़ला चल बसा, जो किसी दिन ख़ुद भी शहीद होता और हमको भी क़ुरबान कराता।"

रशीद अहमद साहब के इन लफ़ज़ो में उनकी आँखों के न जाने कितने सपने बोल रहे थे।

मौलाना क़ासिम साहब के इन्तक़ाल के बाद रशीद अहमद साहब से जब इमामत का बोझ संभालने को कहा गया, तो वह इनकार न कर सके। इन दिनों वह गंगोह में रहते थे और कभी कभी देवबन्द आकर मदरसे के विद्यार्थियों को दर्स (पाठ) दे जाया करते थे, या जो विद्यार्थी मदरसे की पढ़ाई से फ़ारिग़ होकर गंगोह पहुँचते थे, उनको पढ़ा दिया करते थे। इस तरह से उन्होंने क़रीब तीन सौ विद्यार्थियों को तालीम दी, जिनमें से कुछ ने आगे चल कर हिन्दुस्तान की आज़ादी की लड़ाई में बढ़ चढ़ कर हिस्सा लिया। ऐसे लोगों में वलीउल्लाही जमात के छटे इमाम मौलाना महमूदुल हसन साहब, मशहूर क्रान्तिकारी मौलवी उबेदुल्ला सिन्धी मौजूदा ज़माने में जमय्यत के बहुत बड़े लीडर मौलाना हुसैन अहमद साहब मदनी का नाम मिसाल के तौर पर लिया जा सकता है।

रशीद अहमद साहब की सबसे बड़ी ख़ाहिश यह थी कि किसी तरह हिन्दुस्तान के मुसलमान अंगरेज़ों की चालबाज़ियों से बचे रहें और हिन्दुस्तान में आज़ादी की लड़ाई में सबसे आगे बढ़ कर हिस्सा लें। इसी वजह से उनको ऐसे लोगों से बड़ी चिढ़ थी, जो अंगरेज़ी राज की वफ़ादारी का मुसलमानों में प्रचार करते

थे, या ऐसे लोगों की राह में रोड़े अटकाते थे जो अंगरेज़ों की मुख़ालफ़त करते थे। बदक़िस्मती से ऐसे लोगों में सर सय्यद अहमद साहब भी थे, जिनकी शानदार शख़्सियत के आगे बड़े बड़े सर झुकाते थे। लेकिन हाजी रशीद अहमद साहब से उनकी कभी न पट सकी। यहीं तक नहीं, बल्कि कुछ बरसों के बाद कांग्रेस की मुख़ालफ़त करने के लिये जब सर सैयद साहब ने 'अंजुमने इस्लामिया' क़ायम की और मुसलमानों को कांग्रेस से निकल कर उसमें शरीक होने की दावत दी, तो हाजी साहब ने एक फ़तवा देकर यह एलान किया था कि मुसलमानों को कॉंग्रेस में शरीक होना चाहिये, अंजुमने इस्लामिया में नहीं। यहां पर यह बात भी साफ़ कर देना ज़रूरी है कि न तो हाजी रशीद अहमद साहब ख़ुद कांग्रेस में शरीक थे और न उस वक़्त की कांग्रेस का प्रोग्राम उन जैसे गरम दिल के देश भक्त को पसन्द ही आ सकता था। फिर भी इतना तो साफ़ था ही कि कांग्रेस अंगरेज़ों से हिन्दुस्तानियों को कुछ हक़ दिलवाना चाहती थी। सर सय्यद अहमद साहब और उनके साथी इस बात को भी नापसन्द करते थे और सिर्फ़ इस बात का प्रचार करते थे कि मुसलमानों को अपने हर एक काम से यह ज़ाहिर करना चाहिये कि वह अंगरेज़ी राज के पूरे पूरे वफ़ादार हैं। यही वजह थी कि हाजी रशीद अहमद साहब ने कांग्रेस की हिमायत करना ज़रूरी समझा।

इसके कुछ दिन बाद जब मौलाना सादुद्दीन साहब काश्मीरी और मौलाना अमानुल्ला साहब ने हाजी साहब से हिन्दुस्तान के 'दारुल हरब' होने या न होने की बाबत फ़ैसला मांगा, तो हाजी साहब ने हमेशा याद रखने के क़ाबिल बहादुरी और हिम्मत के साथ यह फ़तवा दिया कि हिन्दुस्तान 'दारुल हरब' है। इस फ़तवे का कुछ हिस्सा इस तरह से था—

"अकनू हाले हिन्द रा .खुद ग़ौर फ़र्मायन्द कि इजराये अहकाम कुफ्फ़ार नसारा दरींजा बचे .कुव्वत व ग़ल्बा हस्त। अगर अदना कलक्टर हुक्म कर्द कि दर मसजिद जमात अदा न कुनेद, हेच मर्द अज़ अमीरो ग़रीब .कुदरत नदारद कि अदाये आँ नमायद।

× × बहर हाल तसल्लुते कुफ्फ़ार बर हिन्द दरींजा अस्त कि दर हेच व.क्त कुफ़्फ़ार रा बर दरे हरब .ज्यादा अज़ीं नबूद। व अदाये मरासिमे इसलाम अज़ मुसल्मानान। महज़ ब इजाज़त ईशानस्त व अज़ मुसलमान अज़ीज़ तरीन रिआया कसे नेस्त।"

यानी "अब हिन्दुस्तान की हालत पर आप .खुद ग़ौर करें कि इस मुल्क में ईसाई काफ़िरों के क़ानून इतनी ताक़त रखते हैं कि अगर एक अदना सा कलक्टर भी यह हुक्म कर दे कि मसजिदों में इकट्ठे होकर नमाज़ न पढ़ी जाय, तो फिर किसी अमीर ग़रीब की यह हिम्मत नहीं पड़ सकती कि वह मसजिद में नमाज़ पढ़ सके।

× × बहर हाल हिन्दुस्तान पर काफ़िरों का इख़्तियार इस दरजे तक बढ़ा हुआ है कि किसी व.क्त भी किसी 'दारुल हरब' पर इससे .ज्यादा काफ़िरों का इख़्तियार नहीं होता। यहाँ पर जो अपने मज़हबी काम मुसलमान करते हैं, वह सिर्फ़ काफ़िरों की इजाज़त से। मुसलमान यहां की सब से .ज्यादा दुखी रियाया हैं।"

यह फ़तवा हाजी रशीद अहमद साहब ने उस ज़माने में दिया था, जब स्वराज का नाम लेने पर लोगों को लम्बी लम्बी सज़ायें दी जाती थीं और कुछ नौजवानों को सिर्फ़ इसलिये काले पानी की सज़ा दी गई थी कि उनकी लिखी नज़्मों से मुल्क को आज़ाद करने का जज़्बा उभरता था।

इस तरह हाजी रशीद अहमद साहब हमेशा यह कोशिश करते रहे कि हिन्दुस्तान के मुसलमान आज़ादी की लड़ाई में पूरे तौर से हिस्सा

लेते रहें और इसके लिये अगर ग़ैर मुसलमानों को भी साथ लेना पड़े, तो उनको भी बिना किसी हिचक के साथ में लें। वह सन् १८५७ जैसी फ़िज़ाँ एक बार फिर मुल्क में देखना चाहते थे। अंग्रेज़ों का हिन्दुस्तान में रहना हर वक़्त उनके दिल में काँटे की तरह चुभता रहता था। उनकी ख़्वाहिश थी कि वह मुल्क की आज़ादी के लिये लड़ते हुए ही शहीद हों। जब भी कोई ऐसा मौक़ा आया, उन्होंने कभी अपना पांव पीछे न हटाया, अपने हर एक शागिर्द और मुरीद को भी वह यही तालीम देते थे। जब वह अपने कुछ ख़ास शागिर्दों को इस मैदान में काम करते देखते थे, तो उनको बड़ी तसल्ली और ख़ुशी होती थी।

हाजी रशीद अहमद साहब का इन्तक़ाल ११ अगस्त सन् १६०५ ईसवी दिन शुक्रवार को क़रीब ८६ बरस की उम्र में हुआ। उस वक़्त तक हिन्दुस्तान में एक नई लहर पैदा हो चुकी थी और तिलक जैसे नेता निहायत साफ़ साफ़ लफ़्ज़ों में हिन्दुस्तान की आज़ादी की मांग कर रहे थे, जिसके असर में आकर बहुत से नौजवानों ने अंगरेज़ों के ख़िलाफ़ हथियारों का भी इस्तेमाल करना शुरू कर दिया था। इस जुर्म में अंग्रेज़ सरकार बहुत से नौजवानों को फाँसी पर भी चढ़ा चुकी थी। लेकिन यह आग बढ़ती ही जा रही थी। इस वक़्त तक वलीउल्लाही संगठन भी काफ़ी मज़बूत हो चुका था और हाजी रशीद अहमद साहब के ख़ास मुरीद मौलाना महमूदुल हसन साहब की लीडरी में हिन्दुस्तान में अंग्रेजी हुकूमत के खिलाफ़ लड़ाई शुरू कर देने की काफ़ी ज़ोरदार तय्यारियां कर रहा था।

इस तरह हाजी रशीद अहमद साहब को अपनी ज़िन्दगी में ही अपने मिशन की कामयाबी देखना नसीब हो गया था और मरते वक़्त उनको यह पूरा इतमीनान था कि अब हिन्दुस्तान ज़्यादा दिनों तक ग़ुलाम नहीं रक्खा जा सकेगा।

# मौलाना महमूदुल हसन

वलीउल्लाही जमात के छठे इमाम मौलना महमूदुल हसन साहब ने जमात की बागडोर पूरी तरह तो सन् १६०५ में हाजी रशीद अहमद साहब गंगोही के मरने के बाद अपने हाथ में ली, पर इस तहरीक में काम करना उन्होंने मौलाना क़ासिम साहब के सामने शुरू कर दिया था और उनके काम को देखकर मौलाना क़ासिम साहब को यक़ीन हो गया था कि वलीउल्लाही तहरीक मौलाना महमूदुल हसन साहब की लीडरी में अच्छी तरह फल-फूल सकेगी।

मौलाना महमूदुल हसन साहब की पैदायश १२६७ हि० में देवबन्द में हुई थी। उनके बाप मौलाना जुलफ़िक़ार अली ख़ां और ताऊ मौलाना महताब अली साहब वलीउल्लाही तहरीक के पुराने मददगार थे और उन इने गिने आदमियों में से थे जिनकी मदद से ही सन् १८६७ ई० के उस ज़माने में मौलाना क़ासिम साहब उस मदरसे को क़ायम करने में कामयाब हो सके थे। मदरसे के सबसे पहले विद्यार्थी भी मौलाना महमूदुल हसन ही थे। कुछ ही दिनों में मौलाना क़ासिम साहब ने अपने इस ग़ैर मामूली शागिर्द की छिपी ताक़त को पहिचान लिया और मज़हबी तालीम के साथ साथ जमात के असली असूल और उसके मक़सद भी उन्हें समझा दिये। कितनी ही रातें मौलाना महमूदुल हसन साहब ने उस कहानी को सुनने में बितादीं जिसकी एक-एक घटना शहीदों के ख़ून के ज़िक्र से गूँज रही थी। इस तरह बचपन में ही उनके दिल में मुल्क की आज़ादी की लगन पैदा हो गई और उन्होंने यह ठान लिया कि वह अपनी ज़िन्दगी का एक एक पल इसी काम में बिताएंगे।

६ जनवरी सन् १८७४ को देवबन्द मदरसे के जिन पाँच विद्यार्थियों के सर पर फ़ज़ीलत की पगड़ी बँधी यानी जिन्हें डिगरियाँ मिलीं, उनमें एक वह भी थे। इसके बाद उन्होंने मदरसे में ही बिना तनख़ाह पढ़ाना शुरू कर दिया। सन् १८७५ में सिर्फ़ पच्चीस रुपये माहवार पर वह मदरसे के चौथे मुदर्रिस हुए और उन्होंने देवबन्द के विद्यार्थियों में अपना काम शुरू कर दिया।

सन् १८७८ में उनके उस्ताद मौलाना क़ासिम साहब अचानक चल बसे। इसका उन पर गहरा असर हुआ। मौलाना क़ासिम साहब उनको अपने बेटे की तरह प्यार करते थे। इसके एक साल बाद उन्होंने देवबन्द के कुछ उस्तादों और तालिबइल्मों को मिलाकर 'समरतुल तर्बियत' के नाम से एक नए संगठन की नींव डाली। ख़ुशक़िस्मती से वलीउल्लाही जमात के चौथे इमाम हाजी इमदादुल्ला उस वक़्त तक मक्का में ज़िन्दा थे। मौलाना महमूदुल हसन हज्ज के बहाने उनके पास मक्का गए और उनसे अपने प्रोग्राम की बाबत हिदायतें हासिल कीं। इसके बाद मौलाना हिन्दुस्तान वापस आ गए।

उस वक़्त हिन्दुस्तान में फिर एक नई राजकाजी हलचल नज़र आने लगी थी। ब्रिटिश हुकूमत भी उसे मिटा देने के लिये पर्दे की ओट से आए दिन एक नई चाल चल रही थी। हुकूमत को सबसे बड़ी घबराहट यह थी कि आज़ादी की जो लगन अभी तक मुसलमानों में ही ज़ोर पर थी, वह अब हिन्दुओं में भी फैलती जा रही थी। यह लार्ड लिटन का ज़माना था, जिससे ज़्यादा तंगनज़र और हिन्दुस्तान के भले बुरे को न सोचने वाला वायसराय अब तक शायद कोई दूसरा नहीं आया। इसी ज़माने में दक्खिन का वह मशहूर अकाल पड़ा, जिसमें पचास लाख से ज़्यादा हिन्दुस्तानी मक्खियों की तरह मर गए। लार्ड लिटन पर इसका कुछ भी असर नहीं हुआ। उसने एक तरफ़ तो अफ़ग़ानिस्तान पर चढ़ाई कर दी और दूसरी तरफ़ दिल्ली में एक शानदार

दरबार करने का सरंजाम शुरू कर दिया। भूकों मरते हिन्दुस्तानियों के ज़ख्मों पर यह नमक छिड़कना था। नतीजा यह हुआ कि एक तरफ़ दक्खिन में और दूसरी तरफ़ पंजाब में अंगरेज़ी हुकूमत के ख़िलाफ़ लोग उठ खड़े हुए। यह तहरीकें जल्द ही दबा दी गईं, लेकिन इस बात का सबूत दे गईं कि सन् १८५७ के बाद भी हिन्दुस्तान में कुछ ऐसे लोग हैं जो ब्रिटिश हुकूमत के ख़िलाफ़ हथियार लेकर खड़े हो सकते हैं।

हुकूमत ने इस जोश को दबाने के लिये एक तरफ़ कौंसिलें क़ायम करके कुछ मामूली से हक़ हिन्दुस्तानियों को दिये तो दूसरी तरफ़ प्रेस एक्ट और हथियार छीनने का क़ानून बना कर लोगों को दबाना शुरू किया। इसके साथ ही एक तीसरी चाल फूट डालने की थी, जो पहली दोनों चालों से भी ज़्यादा कामयाब रही और आज तक जारी है। बुरा यह हुआ कि मुल्क के कुछ बड़े बड़े समझदार और असर वाले लोग भी हुकूमत के इस जाल में फँस गए और फँसते रहे और मुल्क की आज़ादी के उस नन्हे से पौदे को, जिसे एक तरफ़ देवबन्द की जमात और दूसरी तरफ़ दक्खिन, बंगाल व पंजाब में उठती हुई उमंगें सींच रही थीं, नुक़सान पहुँचाते रहे।

मौलाना महमूदुल हसन इन हालतों में भी बराबर अपने काम में लगे रहे और 'समरतुल तर्बियत' के संगठन को मज़बूत करने की कोशिश करते रहे, पर वह कोशिश कुछ फल न ला सकी। इसके बाद अपने थोड़े से चुने हुए साथियों के सहारे वह अपने काम में लगे रहे। उस वक़्त उनका ख़याल था कि चूँकि हिन्दुस्तानियों से हथियार छीन लिये गये हैं इस लिये जब तक कोई ग़ैर मुल्की हुकूमत हमारी मदद पर न हो तब तक आज़ादी की जंग शुरू नहीं की जा सकती। इसके लिये उनकी नज़र काबुल पर गई। हिन्दुस्तान और अफ़ग़ानिस्तान की हदें मिली

होने की वजह से वहीं से मदद मिलना सबसे ज़्यादा आसान था। इसके साथ ही हिन्दुस्तान की सरहद पर बसे हुए आज़ाद क़बीलों की मदद हासिल करने का ख़याल भी उनके दिल में उठा, क्योंकि वहीं वलीउल्लाही जमात की वह दूसरी शाख़, जो सन् १८२४ में सय्यद अहमद बरेलवी के साथ हिन्दुस्तान से हिजरत करके सरहद पर चली गई थी, अभी तक अपना काम कर रही थी। मौलाना महमूदुल हसनने मदरसा देवबन्द के उन तालिब इल्मों के सहारे, जो आज़ाद कबीलों से आए थे, अपना ताल्लुक़ वहीं से क़ायम किया और वह उसमें कामयाब हुए। आज़ाद क़बीलों के इलाके के एक बड़े असर वाले सरदार तुरंगज़ई के हाजी साहब से उनकी पुरानी जान पहचान थी। नतीजा यह हुआ कि सन् १८५७ की आज़ादी की लड़ाई में हाजी इमदादुल्ला साहब आज़ाद क़बीलों की मदद लेने और वलीउल्लाही जमात की इन दोनों शाख़ों को मिलाने की जिस कोशिश में नाकामयाब हुए थे, ज़माने की ज़रूरतों से मौलाना महमूदुल हसन अब उसमें कामयाब हुए। अब इन आज़ाद क़बीलों के दूत और आदमी बराबर उनके पास आने जाने लगे।

अफ़ग़ानिस्तान में उस वक़्त अमीर हबीबुल्ला का राज था। मौलाना ने फ़ौरन ही उनसे और उनके कुछ बड़े बड़े सरदारों और भाइयों से लिखा पढ़ी शुरू की। इन भाइयों में ख़ास शाहज़ादा नसरुल्ला ख़ाँ थे, जिन्होंने सन् १८६८ में इंगलिस्तान जाकर वहाँ की पार्लिमेन्ट के मेम्बरों और ब्रिटिश सरकार के अफ़सरों से बड़े ज़ोर के साथ कहा था कि अफ़ग़ानिस्तान की हुकूमत में अंगरेज़ों का जो दख़ल है वह फ़ौरन उठा लिया जाय। उनकी बात उस वक़्त नहीं सुनी गई, जिससे उन्होंने अंग्रेज़ों की मुख़ालफ़त में 'जमीय्यते सियासिया' के नाम से अफ़ग़ानिस्तान में एक संगठन बनाना शुरू कर दिया। मौलाना महमूदुल हसन ने इस 'जमीय्यत' से भी अपना सम्बन्ध क़ायम कर लिया था और उनके कुछ ख़ास अफ़ग़ान शागिर्द उसमें बढ़ कर हिस्सा ले रहे थे।

इसके बाद उन्होंने फिर हिन्दुस्तान में अपने संगठन को मज़बूत करने की तरफ़ ध्यान दिया। इस वक़्त तक हिन्दुस्तानियों के दिलों में अंग्रेज़ों और अंग्रेज़ी राज का उतना डर नहीं रह गया था। साथ ही मौलाना महमूदुल हसन को मौलाना उबेदुल्ला सिन्धी व मौलाना क़ासिम साहब के धेवते मुहम्मद मियाँ अन्सारी जैसे शागिर्द भी मिल गए थे। मौलाना की सादा और मेहनत की ज़िन्दगी, सचाई और ख़ुदा परस्ती ने काफ़ी असर पैदा कर लिया था और डाक्टर मुख़तार अहमद अन्सारी जैसे लोग उनके मुरीद बन चुके थे।

सन् १६०६ के आस पास मौलाना की हिदायतों के मुताबिक़ उनके शागिर्द मौलाना उबेदुल्ला सिन्धी ने मदरसा देवबन्द में "जमीयतुल अन्सार' के नाम से एक नया संगठन क़ायम किया, जिसमें देवबन्द के मदरसे से निकले विद्यार्थी शरीक थे। सन् १६१० में देवबन्द के मदरसे का जो शानदार कनवोकेशन हुआ उसमें इस जमात के क़ायम होने का ऐलान किया गया और अगले साल उसका सालाना जलसा करने का भी ऐलान हुआ। इसी ऐलान के मुताबिक़ 'जमीयतुल अन्सार' का पहला जलसा १५-१६-१७ अप्रैल सन् १६११ ई० को मुरादाबाद में हुआ, जिसमें इस संगठन के असूलों पर रोशनी डालते हुए मौलान महमूदुल हसन के गुरु भाई मौलाना अहमद हसन मुहद्दिस अमरोही ने अपनी तक़रीर में कहा था—

"बाज़ नई रोशनी के शैदाई (प्रेमी) कहते हैं कि जमीयतुल अन्सार ओल्ड बायज़ एसोसिएशन की नक़ल है—लेकिन यह बात हरगिज़ सही नहीं। जमीयतुल अन्सार की तहरीक अब से तीस बरस पहले शुरू हो गई थी, और उस तहरीक के बानी मदरसे आलिया के वह तालिब इल्म थे जो आज उलूम (इलमों)

के उस चश्मा ( दरिया ) हैं और आफ़ताबे फ़नून ( हुनर के सूरज ) हैं और जिनकी ज़ात बाबरकात ( बरकत वाली ज़ात ) पर आज ज़माना जिस क़दर नाज़ करे थोड़ा है। लेकिन यह तहरीक उस वक़्त ज़माने की ज़रूरतों से मुताल्लिक़ न थी, इस लिये रुक गई और आख़िर इस कुल्लिये ( असूल ) की बिना पर कि ज़रूरत हर चीज़ को अपने आप पैदा कर देती है, १६०६ से इस अंजुमन को दुबारा ज़िन्दा कर के 'जमीयतुल अन्सार' नाम रक्खा गया। जमीयतुल अन्सार हरगिज़ किसी अंजुमन की नक़ल नहीं है और न किसी ज़ाती मक़ासिद ( निजी फ़ायदे ) से बहैसियत दुनियावी इसका ताल्लुक़ है, बल्कि इसके मक़सद वह ज़रूरी मक़सद हैं, जिनकी आज कल बहुत ज़रूरत है।"

इस हवाले से ज़ाहिर है कि जमीयतुल अन्सार 'समरतुल तर्बियत' का ही दूसरी रूप थी।

एक तरफ़ मौलाना महमूदुल हसन अपने संगठन को मज़बूत बनाते जा रहे थे, दूसरी तरफ़ हकूमत भी ख़ामोश नहीं बैठी थी, मदरसे के चलाने वालों ने अंगरेज़ सरकार से रुपये की मदद लेने से बार-बार इनकार किया था, मदरसे के बानी मौलाना क़ासिम साहब व उनके साथियों की ज़िन्दगी के हालात सरकार को मालूम थे। हुकूमत के दिल में काफ़ी डर पैदा हो चुका था। सन् १६१० में साहबज़ादा आफ़ताब अहमद ख़ाँ की तजवीज़ पर मदरसा देवबन्द की इन्तज़ामिया कमेटी ने यह तय किया कि हर साल मदरसा देवबन्द के कुछ तालिब इल्म अंगरेज़ी पढ़ने के लिये अलीगढ़ कालेज जायँ और अलीगढ़ कालेज के कुछ तालिब इल्म अरबी की तालीम के लिये मदरसा देवबन्द भेजे जायँ, इस तजवीज़ के मुताबिक़ अलीगढ़ कालेज के विद्यार्थियों का जो पहला जत्था देवबन्द आया उसी के एक विद्यार्थी अनीस अहमद को सरकार ने अपनी तरफ़ मोड़ लिया और वह मौलाना महमूदुल हसन की तमाम हलचलों की रिपोट हुकूमत तक पहुँचाने लगा। उन दिनों मौलाना और उनके

साथियों की ख़ास बैठकें एक तहख़ाने में हुआ करती थीं, जिसमें सरहद व काबुल से आए हुए वह लोग भी, जो मौलाना के मिशन में शरीक थे, शामिल हुआ करते थे। अनीस अहमद को उस तहख़ाने की बैठकों का हाल तो नहीं मालूम होता था, लेकिन वह उन आने जाने वालों के फ़ोटो लेकर हुकूमत तक पहुँचाते रहता था। नतीजा यह हुआ कि हुकूमत को हालाँकि मौलाना के असली भेद नहीं मालूम हो सके फिर भी वह इतना तो जान ही गई कि मौलाना कोई एक बहुत बड़ी साज़िश अंगरेज़ों के ख़िलाफ़ खड़ी कर रहे हैं।

कुछ दिन बाद ही तुरंगज़ई के हाजी साहब ने सरहद पर मदरसे क़ायम करने शुरू किये। वलीउल्लाही जमात का अपने असूलों के प्रचार के लिये ऐसे मदरसों का क़ायम करना एक पुराना तरीक़ा था। तुरंगज़ई के हाजी साहब को अपने इस काम में अपने गांव के पास में ही एक सच्चे और मेहनती नौजवान की मदद भी हासिल हो गई, जो बाद में बहुत मशहूर सियासी लीडर हुआ। यह नौजवान ख़ान अब्दुल ग़फ़्फ़ार ख़ां साहब थे, जो आज सरहदी गान्धी के नाम से तमाम हिन्दुस्तान में मशहूर हैं, लेकिन इस बात को इने गिने लोग ही जानते हैं कि उनको सियासत के मैदान में खींचने वाले वलीउल्लाही जमात के ही एक मेम्बर तुरगज़ई के हाजी साहब थे।

सरकार ने फ़ौरन सरहद के यह मदरसे जबरन बन्द कर दिये और हाजी साहब पर कुछ पाबन्दियाँ लगाने या उनको क़ैद करने की भी कोशिश की। इस पर मौलाना की हिदायत के मुताबिक़ हाजी साहब आज़ाद क़बीलों में चले गए। उन्होंने वहां पठानों का संगठन शुरू कर दिया। कुछ दिन बाद मौलाना महमूदुल हसन ने मदरसा देवबन्द के एक पुराने विद्यार्थी मौलाना सैफ़ुर्रहमान को आज़ाद क़बीलों में संगठन के लिये तुरंगज़ई के हाजी साहब के पास भेजा। मौलाना सैफ़ुर्रहमान पेशावर के नज़दीक के ही रहने वाले थे और मदरसा देवबन्द में उन्होंने

तालीम पाई थी। कुछ दिन टोंक में पढ़ाकर वह दिल्ली में फ़तहपुरी मदरसे के हेड मास्टर हो गए थे। तुरंगज़ई के हाजी साहब के पास पहुँच कर उन्होंने पठानों का काफ़ी संगठन किया। इसके बाद वह इसी काम से काबुल चले गए, पर बाद में सरकारी दबाव और चालों ने उन्हें इस सही, पर ख़तरनाक रास्ते से अलग कर दिया।

मौलाना महमूदुल हसन का प्रोग्राम यह था कि काबुल से लेकर हिन्दुस्तान के ठेठ दूसरे कोने तक एक संगठन फैल जाय। वह संगठन जब पूरा हो जाय तो काबुल और आजाद कबीलों की एक फ़ौज हिन्दुस्तान पर हमला करे, मुल्क के भीतर का संगठन उस व.क्त मुल्क के भीतर से लड़ाई छेड़ दे और इस तरह अंगरेज़ी हुकूमत को उखाड़ फेंका जाय।

कुछ दिनो बाद जब टर्की और बलकान रियासतों में लड़ाई छिड़ी, तो मौलाना और उनकी पार्टी ने टर्की की मदद करने का फ़ैसला किया। इसी फ़ैसले के मुताबिक डाक्टर अन्सारी साहब एक डाक्टरी मिशन लेकर तुर्की गए। इसके कुछ दिन बाद सन् १९१४ में यूरोपियन जंग का ऐलान हो गया। मौलाना ने फ़ौरन तय कर लिया कि ब्रिटिश हकूमत के ख़िलाफ़ हथियार उठाने का यह सबसे अच्छा मौक़ा है। उन्होंने इसके लिये अपने संगठन की कड़ियाँ और भी मजबूत करनी शुरू कर दीं। इस व.क्त तक वह दिल्ली में भी 'नज़ारुतुल मआरिफ़' के नाम से एक मदरसा क़ायम कर चुके थे, जो दर असल वलीउल्लाही जमात के क्रान्तिकारी संगठन की एक शाख़ था। इस मदरसे का तमाम बोझ मौलाना महमूदुल हसन साहब के ख़ास शगिर्द और उनकी सियासत के राज़दाँ मौलाना उबेदुल्ला सिन्धी पर था और मदरसे की मदद डाक्टर अन्सारी, हकीम अजमल ख़ाँ वग़ैरा भी करते रहते थे, जो मौलाना के मुरीद और उनके दोस्तों में से थे।

इसी ज़माने में हिन्दुस्तान के एक दूसरे मौलवी अब्दुल हक़ ह.क़ानी ने यह फ़तवा दिया कि तुर्की के ख़िलाफ़ अंगरेज़ों की मदद करना जायज़ है। इस फ़तवे पर कुछ और मौलवियों के भी दस्तख़त थे। कुछ दिन बाद यह फ़तवा दस्तख़तों के लिये मौलाना महमूदुल हसन साहब के सामने पेश किया गया। मौलाना महमूदुल हसन ठंडे मिज़ाज के थे और अपने सियासी ख़याल सिवा अपने ख़ास शागिर्दों के आम तौर पर ज़ाहिर नहीं किया करते थे, लेकिन जब यह फ़तवा एक आम जलसे में उनके सामने पेश किया गया, तो उन्होंने अपने मिज़ाज के ख़िलाफ़ बड़े सख़्त लफ़्ज़ों मे उस फ़तवे की बुराई की और उसे उठाकर फेंक दिया। उस ज़माने में यह एक आम अफ़वाह फैलाई गई थी कि अंगरेज़ हुकूमत हिन्दुस्तान में अपनी ज़रा भी मुख़ालफ़त बरदाश्त नहीं करेगी और जो भी उसके रास्ते में आवेगा उसे पूरी तरह कुचल देगी। मौलाना जानते थे कि इस फ़तवे के बारे में चुप रहना हुकूमत की धमकी को मंज़ूर कर लेना और तमाम मुल्क के सामने डर की एक बुरी मिसाल खड़ी कर देना है, इस लिये उन्होंने तमाम ख़तरों को पहचानते हुए भी उसके बारे में सख़्त रवय्या इख़्तियार किया। उनके इस बरताव से उनके साथियों में बड़ी सनसनी फैल गई और लोग यह उम्मीद करने लगे कि मौलाना फ़ौरन गिरफ़्तार कर लिये जावेंगे, लेकिन उस वक़्त हुकूमत की हिम्मत उन पर हाथ डालने की न हुई। हलाँकि इसके बाद मौलाना को हकूमत के हाथों इससे बीसियों गुनी ज़्यादा तकलीफ़ उठानी पड़ीं।

अगस्त सन् १६१५ में मौलाना ने अपने ख़ास शागिर्द उबेदुल्ला सिन्धी को काबुल भेजा। उबेदुल्ला सिन्धी ने लिखा है कि मौलाना ने जब उनको काबुल जाने का हुकुम दिया, तब कोई ख़ास प्रोग्राम उन्हें

नहीं दिया। काबुल पहुँच कर उनको मालूम हुआ कि मौलाना ने पिछले बीसियों बरसों से वहाँ मैदान तय्यार कर लिया था. जब उबेदुल्ला सिन्धी जनरल नादिर ख़ाँ से मिले तब उनको यह देखकर बहुत हैरत हुई कि जनरल नादिर ख़ाँ उनकी बाबत पहले से बहुत कुछ जानते थे। इसके बाद काबुल में इस जमात के कारकुनों ने जो कुछ किया, उसकी एक लम्बी कहानी है। थोड़े से में यह कहा जा सकता है कि काबुल के तख़्त से अंगरेज़ों के हिमायती अमीर हबीबुल्ला को हटा कर उनकी जगह अंगरेज़ों के सख़्त मुख़ालिफ़ अमानुल्ला ख़ाँ को बैठाने और अंगरेज़ों के पंजों से अफ़ग़ानिस्तान को आज़ाद कराने में बहुत बड़ा हाथ मौलाना महमूदुल हसन और उनके शागिर्दों का था। यह एक ऐसी बात है, जिसे लोग बढ़ा कर कही हुई समझ सकते हैं, लेकिन अब ज़माना आ गया है कि इसके पूरे सबूत भी पेश किये जा सकते हैं।

मौलाना उबेदुल्ला सिन्धी को काबुल भेजने के एक महीने बाद १८ सितम्बर १९१५ को मौलाना महमूदुल हसन साहब भी अपने कुछ ख़ास शागिर्दों के साथ हज के बहाने मक्का चल दिये। हकूमत को अपने जासूस अनीस अहमद के ज़रिये मौलाना की इन हलचलों की बातें मालूम होती रहती थीं। जब मौलाना को हिन्दुस्तान से बाहर जाते देखा तो हकूमत का माथा ठनका। मौलाना के बम्बई पहुँचते पहुँचते वहाँ के अफ़सरों को मौलाना की गिरफ़्तारी का हुकुम भेजा गया। हुक्म कुछ देर से पहुँचा। वह उस वक़्त मिला जब बीसियों हज़ार मुसलमान समन्दर के किनारे खड़े अपने इस इमाम को विदा कर रहे थे। इस के बाद जहाज़ के कप्तान को मौलाना की गिरफ़्तारी का हुक्म दे दिया गया। वह भी किसी वजह से अमल में न आ सका। नतीजा यह हुआ कि मौलाना मय अपने साथियों के हेजाज़ पहुँच गए। वहीं वह हेजाज़ के गवर्नर ग़ालिब पाशा से मिले और उनसे आज़ाद क़बीलों के लिये एक ख़त हासिल किया, जिसमें तुर्की सरकार को मौलाना का मददगार बताया गया

और क़बीलों से यह अपील की गई थी कि वह अंगरेज़ों के ख़िलाफ़ संगठित होकर लड़ाई छेड़ दें। रौलट कमेटी की रिपोर्ट में इस ख़त का ज़िक्र 'ग़ालिब नामा' के नाम से किया गया है।

ग़ालिब पाशा के इस ख़त को मौलाना के एक ख़ास शागिर्द मुहम्मद मियाँ अन्सारी लेकर चले और हिन्दुस्तान होते हुए आज़ाद क़बीलों में वह ख़त पहुँचा कर काबुल पहुँच गए। इस के बाद मौलाना मक्का और मदीना पहुँचे। वहीं मौलाना महमूदुल हसन के एक दूसरे शागिर्द मौलाना हुसैन अहमद साहब पहिले से रह रहे थे। मौलाना को हुसैन अहमद साहब से काफ़ी मदद मिली।

मदीने में मौलाना ने तुर्की हुकूमत के जंगी वज़ीर अनवर पाशा और एक दूसरे फ़ौजी अफ़सर जमाल पाशा से मुलाक़ात की। अनवर पाशा मौलाना की बाबत पहिले से सुन चुके थे। उन्होंने मौलाना को पूरी मदद देने का वादा किया। साथ ही यह भी कहा कि "असली मदद तो आपके मुल्क के ही लोग दे सकते हैं और इसके लिये ज़रूरी यह है कि आप ग़ैर मुसलमानों को भी अपने साथ लें।" अनवर पाशा की इन बातों का मौलाना पर गहरा असर पड़ा। उन्होंने काबुल में काम करने वाले अपने साथियों को यह सन्देसा भेजा कि वह ग़ैर मुसलमानों को ख़ास तरीक़े पर अपनी तहरीक में शरीक करें और उनको ज़िम्मेदारी की जगहें देकर यह इतमीनान दिलाने की कोशिश करें कि इस तहरीक का मतलब सिर्फ़ मुल्क की आज़ादी है, न कि हिन्दुस्तान पर फिर से मुसलमानों की हुकूमत क़ायम करना। इस संदेसे के मुताबिक़ राजा महेन्द्र प्रताप को हिन्दुस्तान की उस आरज़ी सरकार का प्रेसीडेन्ट बनाया गया जो काबुल में मौलाना उबेदुल्ला सिन्धी वग़ैरा ने क़ायम की थी। वह इस तरह की पहली सरकार थी, जिसकी याद नेता जी सुभाषचन्द्र बोस ने जापान, स्याम और बर्मा में आज़ाद हिन्द सरकार क़ायम करके बीसियों बरस बाद फिर से ताज़ा कर दी।

इसी वक़्त अनवर पाशा की सलाह से यह भी तय हुआ कि मौलाना महमूदुल हसन साहब ख़ुद भी आज़ाद क़बीलों में पहुँचें। इसका इन्तज़ाम हो ही रहा था कि मक्का का हाकिम शरीफ़ हुसेन अंगरेज़ों से मिल गया। उसने तुर्की हुकूमत के ख़िलाफ़ बग़ावत का झंडा खड़ा कर दिया। मौलाना इसका नतीजा जानते थे। उन्होंने मक्का से निकल जाने की काफ़ी कोशिश की पर नाकाम रहे और मय अपने साथियों के १७ सितम्बर १६१६ को गिरफ़्तार कर लिये गए। इसके बाद क़रीब चार साल तक वह माल्टा के फ़ौजी क़ैदख़ाने में नज़रबन्द रक्खे गए। इस चार साल में उनको व उनके साथियों को जो सख़्त तकलीफ़ें उठानी पड़ीं, उनको बयान करने के लिये कई मोटी मोटी जिल्दें भी नाकाफ़ी होंगी। शुरू में तो सभी को यक़ीन था कि फाँसी दे दी जायगी और इसी यक़ीन के मुताबिक़ मौलाना के एक साथी अज़ीज़ गुल साहब सरहदी अपनी गर्दन दबा दबा कर देखा करते थे कि फाँसी के वक़्त कितनी तकलीफ़ होती है। बाद में हुकूमत ने किसी मसलहत से फाँसी तो न दी, पर यह चार साल की नज़र बन्दी फांसी से ज़्यादा तकलीफ़ की थी। मौलाना और उनके साथियों ने ख़ुशी ख़ुशी यह सब सहा और कभी अपने माथे पर शिकन भी नहीं आने दी। मौलाना के एक साथी हकीम नसरत हुसैन साहब का तो माल्टा में ही इन्तक़ाल भी हो गया। आज भी माल्टा में मुल्क के इस देश भक्त सपूत की क़ब्र एक सुनसान जगह में बनी हुई है और 'नै चिराग़े नै गुले' उस दिन का इन्तज़ार कर रही है जब आज़ाद हिन्दुस्तान उसकी अहमियत समझेगा।

मई सन् १६२० के आख़िरी हफ़्ते में मौलाना महमूदुल हसन साहब इस नज़रबन्दी से रिहा होकर अपने साथियों के साथ बम्बई पहुँचे। उस वक़्त तक ख़िलाफ़त की तहरीक शुरू हो चुकी थी। हुकूमत को डर था कि मौलाना भी आकर कहीं इसमें शरीक न हो जायँ, इस लिये जहाज़ पर ही ख़ुफ़िया पुलिस के कुछ अफ़सर और एक कोई मौलवी रहीम

बलंश साहब मौलाना से मिले और उनको यह समझाने की कोशिश की कि वह बम्बई के किसी इस्तक़बालिया जुलूस में शरीक न हों और न ख़िलाफ़त से अपना कोई सम्बन्ध दिखावें, बल्कि चुपचाप देवबन्द चले जायँ।

मौलाना ने इन लोगों को कोई जवाब नहीं दिया। उनको ख़ुद जुलूस वग़ैरा में शरीक होना अच्छा नहीं लगता था। लेकिन इस मशविरे में जो इशारा था, उसकी वजह से उन्होंने ख़िलाफ़त कमेटी को अपना स्वागत करने की इजाजत दे दी। इसके बाद तो देवबन्द तक हर स्टेशन पर उनका शाही इस्तक़बाल हुआ। इस तरह उन्होंने हुकूमत को यह जता दिया कि चार साल की नज़रबन्दी की तकलीफ़ें उनकी सेहत और जिस्म पर भले ही कितना भी असर डाल सकी हों, पर उनकी उमंगों पर उनका कोई असर नहीं है। मुल्क की आज़ादी की चाह अब भी उसी तरह उनके दिल में मौजूद है।

देवबन्द आकर मौलाना महमूदुल हसन साहब ने अपने तमाम ख़ास साथियों को इकट्ठा करके हुकूमत के ख़िलाफ़ लड़ने का एक प्रोग्राम उनके सामने रक्खा। इसके साथ ही उन्होंने यह भी अपने साथियों से पूछा कि अंगरेज़ों और अंगरेज़ी हुकूमत के ख़िलाफ़ उनके दिल में जो नफ़रत है, वह सिर्फ़ इस वजह से तो नहीं है कि ज़ाती तौर पर उनको इनके ज़रिए तकलीफ़ें उठानी पड़ी हैं। यह बात साबित करती है कि मौलाना ख़ुद अपनी बाबत भी कितनी गहराई के साथ सोचा करते थे।

मौलाना महमूदुल हसन ने यह नया प्रोग्राम ऐसा बनाया था, जिसमें आम जनता हिस्सा ले सके। वह अब तक यह अच्छी तरह समझ चुके थे कि सिर्फ़ सियासी साज़िशों से आज़ादी की

लड़ाई आगे नहीं बढ़ सकती। इसी सच्चाई को हिन्दुस्तान के दूसरे क्रान्तिकारियों ने सन् १६३५-३६ के बाद समझा और वह भी बम्र पिस्तौलों का सहारा छोड़ कर जनता यानी किसान मज़दूरों का संगठन करने लगे। मौलाना महमूदुल हसन ने इस सचाई को पन्द्रह बरस पहले समझ लिया था। यह उनकी दूरन्देशी की एक दूसरी मिसाल है।

नज़रबन्दी के इन चार बरसों में मौलाना की सेहत बिल्कुल गिर गई थी। गठिया का दर्द उनको दिन रात परेशान करता था, साथ ही दम दम पर पेशाब जाने का रोग भी पैदा हो गया था। डाक्टरों की राय थी कि मौलाना आराम करें, लेकिन मौलाना को एक पल के लिये भी चैन नहीं था। वह दिन रात घूमते रहते थे। इसके कुछ दिन पहले 'जमीयतुल उलमा' के नाम से एक जमात क़ायम की जा चुकी थी, जो मुल्क की आज़ादी के लिये एक खुला प्रोग्राम जनता के सामने रखने का मिशन लेकर शुरू हुई थी। मौलाना ने इस ख़याल को बहुत पसन्द किया। वह दिन रात उसके संगठन को मज़बूत करने की कोशिश में जुटे रहने लगे। इस मेहनत का नतीजा यह हुआ कि उनको तपेदिक़ हो गया। डाक्टरों ने फिर यह बतलाया कि मौलाना का जिस्म थोड़ी सी भी मेहनतर बर्दाश्त नहीं कर सकता, लेकिन मौलाना को एक पल भी बेका खोना गवारा नहीं था। दिन रात बुख़ार में भुनते हुए वह तजवीज़ों के मसविदे लिखने व साथियों को हिदायतें देने में जुटे रहते थे।

इसी ज़माने में अलीगढ़ यूनिवर्सिटी के कुछ आज़ाद ख़याल विद्यार्थियों ने उनसे अपने जलसे की सदारत करने की दरख़ास्त की। मौलाना इस वक़्त हिलने डुलने से भी मजबूर थे। डोली में लेट कर वह स्टेशन पहुँचे। इसी हालत में अलीगढ़ तक का

सफ़र किया। वहाँ पहुँच कर २६ अक्टूबर सन् १६२० को जलसे की सदारत की। यह उनकी आख़िरी तक़रीर थी, जिसमें मुल्क की आज़ादी के लिये सब कुछ दाँव पर लगा देने की अपील उन्होंने बड़े पुरदर्द लफ़्ज़ों में की थी। यह जलसा अलीगढ़ कालेज के उन विद्यार्थियों का था, जिन्होंने ख़िलाफ़त तहरीक के प्रोग्राम के मुताबिक़ अलीगढ़ यूनीवर्सिटी इस लिये छोड़ दी थी, क्योंकि वह सरकारी मदद पर चलती थी। उसी वक़्त मौलाना महमूदुल हसन साहब के हाथों से 'जामिया मिल्लिया इस्लामिया' मदरसे की भी नींव रक्खी गई जो आज भी मदरसा देवबन्द की तरह दिल्ली में क़ौमी तालीम का एक ख़ास मरकज़ है। इसके ठीक एक महीने बाद ३० अक्तूबर सन् १६२० ई० को दिल्ली में डाक्टर अंसारी साहब की कोठी पर मौलाना महमूदुल हसन साहब का इन्तक़ाल हुआ। कहा जाता है कि मरने से कुछ घंटे पहले ही आज़ाद क़बीलों के इलाक़े से आए हुए कुछ आदमियों को उन्होंने हिदायतें दी थीं और चूँकि सुनने और बोलने की ताक़त उस वक़्त बहुत कम हो गई थी, इसलिये मौलाना के मुंह पर कान रख कर सरहद के उन पठानों ने मौलामा की यह आख़िरी बातें सुनी थीं।

मौलाना महमूदुल हसन साहब ने अपनी इमामत के ज़माने में पिछले दो सौ बरस से चली आ रही वलीउल्लाही तहरीक में दो ख़ास नई बातें कीं, पहली यह कि उन्होंने ग़ैर मुसलमानों को शरीक करके इस तहरीक को सच्चे मानों में तमाम हिन्दुस्तान की तहरीक बना दिया और दूसरी यह कि इसमें आम जनता को शरीक करके वह उसे एक नया रास्ता दिखा गए।

—:•:—

# मौलाना उबेदुल्ला सिन्धी

वलीउल्लाही जमात के छटे इमाम मौलाना महमूदुलहसन साहब के उन साथियों और शागिर्दों में, जिन्होंने मुल्क की आज़ादी की लड़ाई में निहायत दिलेरी के साथ हिस्सा लिया, मौलाना उबेदुल्ला सिन्धी का नाम हमेशा बड़ी इज़्ज़त के साथ लिया जायगा। मौलाना उबेदुल्ला सिन्धी को अपनी ज़िन्दगी का बहुत बड़ा हिस्सा जिलावतनी की दिल कँपा देने वाली मुशकिलों में बिताना पड़ा।

मौलाना उबेदुल्ला सिन्धी का जनम १० मार्च सन् १८७१ ई० को मियांवाली (पंजाब) के एक हिन्दू से सिख बने हुए ख़ानदान में हुआ था। उनके बाप का नाम रामसिंह था, जो सुनारगीरी और साहूकारी का पेशा करते थे और अपने इस बेटे के जनम से चार महीने पहले ही चल बसे थे। नतीजा यह हुआ कि उबेदुल्ला साहब को अपने बाप की मुहब्बत न मिल सकी, लेकिन उनके बाबा जसपतराम जी उनके पैदा होने के क़रीब दो साल बाद तक ज़िन्दा रहे। इसके बा उबेदुल्ला साहब की माँ अपनी गृहस्थी के साथ मायके आगईं। कुछ अरसे के बाद वह अपने भाई के साथ जयपुर ज़िला डेरा ग़ाज़ीख़ाँ चली गईं और वहाँ रहने लगीं। यहीं पर मौलाना ने शुरू की तालीम पाई और यहीं पर सन् १८८७ में अपने एक आर्यसमाजी दोस्त के ज़रिये मिली हुई एक किताब 'तोहफ़तुल हिन्द' के असर में आकर उन्होंने इसलाम क़बूल कर लिया और घर छोड़कर सिन्ध जा पहुँचे। इस वक़्त मौलाना की उमर सिर्फ १६ साल की थी।

सिन्ध पहुँच कर मौलाना ने कुछ दिनों तक इसलामी फ़लसफ़े की शुरू की किताबें पढ़ीं जिनकी तरफ उनका ख़ास झुकाव था। इसके बाद सक्खर इसलामिया स्कूल के हेडमास्टर मुहम्मद अज़ीम ख़ाँ युसुफ़ज़ई की लड़की के साथ उनकी शादी हो गई। मौलाना ने इसके बाद सक्खर में ही रहने का इरादा कर लिया और इसकी ख़बर अपनी माँ को भी दे दी। माँ जो अपने बेटे के वियोग में बेहाल हो रही थीं, यह ख़बर मिलते ही सक्खर पहुँचीं। पर उनको यह देख कर बड़ा धक्का लगा कि उनके बेटे ने इसलाम क़बूल कर लिया है। फिर भी बेटे की मुहब्बत की वजह से वह उससे दूर रहने को तय्यार नहीं थीं। इसी तरह मौलाना के दिल में भी अपनी माँ के लिये इज़्ज़त और मुहब्बत थी, लेकिन जिस चीज़ को वह ठीक समझते थे उसे किसी दुनियावी मुहब्बत के लिये छोड़ देना भी वह गवारा नहीं कर सकते थे। इतना होने पर भी उन्होंने कभी अपनी माँ को, जो सिर्फ़ उनके ही आसरे पर थीं, मुसलमान बनाने की कोशिश नहीं की। यही वजह है कि उनकी मां अपने मज़हब पर क़ायम रहते हुए भी बराबर उनके साथ रह सकीं। इससे ज़ाहिर होता है कि मौलाना ने हालांकि अपने मज़हब को बदला था, लेकिन वह ग़ैर ज़रूरी मज़हबी जोश उनमें बिलकुल ही नहीं था जो अकसर एक मज़हब से दूसरे मज़हब में जाने वालों में पाया जाता है।

सिंध में रहते हुए मौलाना के हाथ कुछ किताबें लगीं जो वलीउल्लाही जमात के दूसरे इमाम शाह अब्दुल अज़ीज़ के भतीजे शाह इस्माईल शहीद की लिखी हुई थीं। इन किताबों के ज़रिये मौलाना को सबसे पहिले वलीउल्लाही जमात के उसूलों की जानकारी हुई और वह इसके बाबत कुछ ज़्यादा मालूम करने के लिये बेचैन हो उठे। इसी सिलसिले में सिन्ध के कुछ ऐसे लोगों से भी उनकी जानकारी हुई

जो वलीउल्लाही जमात से ताल्लुक़ रखते हुए हिन्दुस्तान से ब्रिटिश हुकूमत को उखाड़ फेंकने की तय्यारी कर रहे थे। मौलाना ने भी उनके काम में दिलचस्पी लेना शुरू कर दिया और जब उन लोगों को यह पक्का यक़ीन हो गया कि मौलाना हर तरह से एतबार के क़ाबिल हैं और उनके दिल में मुल्क की आज़ादी के लिये सच्ची तड़प है, तो उनको यह भेद भी बता दिया कि इस तमाम संगठन के सबसे बड़े मौजूदा नेता देवबन्द मदरसे के हेड मास्टर मौलाना महमूदुलहसन साहब हैं। इतना मालूम होते ही मौलाना उबेदुल्ला सिन्धी देवबन्द जा पहुँचे। वहां पहुँचते ही उन्होंने मौलाना महमूदुलहसन साहब से पढ़ना शुरू कर दिया और कुछ दिन बाद ही उन्होंने मौलाना महमूदुलहसन साहब का इतना यक़ीन हासिल कर लिया कि वह उनकी गुप चुप होने वाली सियासी मजलिसों में भी शरीक होने लगे।

इस वक़्त मौलाना महमूदुलहसन साहब के सामने एक ख़ास काम मदरसा देवबन्द के विद्यार्थियो मे देश भक्ती का प्रचार करना था जिससे आज़ादी की लड़ाई के लिये उनमें से रंगरूट मिल सकें। इस काम के लिये उनकी सलाह से मदरसा देवबन्द के विद्यार्थियों का एक संगठन मौलाना उबेदुल्ला ने बनाया, जिसका नाम 'जमीयतुल अन्सार' रक्खा गया। मौलाना उबेदुल्ला ख़ुद इसके जनरल सेक्रेटरी बने। लेकिन इस वक़्त तक मदरसा देवबन्द में कुछ ऐसे लोग भी घुस आये थे जिनको ब्रिटिश हुकूमत की मुख़ालफ़त का नाम सुनते ही कपकपी आने लगती थी। ऐसे लोगों को मौलाना उबेदुल्ला साहब का देवबन्द के मदरसे में रहना खटका और उन्होंने उन पर तरह तरह के इलज़ाम लगाने शुरू कर दिये। बदक़िस्मती से उस वक़्त इन इलज़ाम लगाने वालों में कुछ ऐसे लोग भी शरीक हो गए थे, जिनको मौलाना उबेदुल्ला बहुत इज़्ज़त की निगाह से देखते थे। इसका नतीजा यह हुआ कि मौलाना उबेदुल्ला का मन देवबन्द से ऊबने लगा और वह सिंध

वापस जाने की सोचने लगे। लेकिन मौलाना महमूदुलहसन साहब अपने इस शागिर्द की ग़ैर मामूली सचाई और दिमाग़ी ताक़त से वाकिफ़ हो चुके थे, इसलिये उन्होंने समझा बुझा कर मौलाना उबेदुल्ला को देहली भेज दिया, जहां वह 'नज़ारुतुल मआरिफ़' के नाम से एक मदरसा चलाने लगे। इस मदरसे का ज़रूरी इन्तज़ाम करने के लिये ख़ुद मौलाना महमूदुलहसन साहब देहली पहुँचे और हकीम अजमल ख़ाँ साहब व डाक्टर अन्सारी साहब वग़ैरा अपने ख़ास-ख़ास दोस्तों से मौलाना उबेदुल्ला की जान पहचान करा कर उनसे यह वादा ले गए कि वह व.क़्त ज़रूरत मदरसे की मदद करते रहेंगे।

जैसा कि रौलट कमेटी की रिपोर्ट में भी ज़िक्र है, देहली आ जाने के बाद भी मौलाना उबेदुल्ला मौलाना महमूदुलहसन साहब से मिलने के लिये बराबर देवबन्द आते जाते रहे। इसी बीच मौलाना उबेदुल्ला ने दिल्ली में एक इनक़लाबी पार्टी खड़ी कर ली थी जिसका मक़सद हथियारों के ज़रिये अंग्रेज़ों को हिन्दुस्तान से बाहर निकाल देना था। यह सन् १९१३ का ज़माना था और हिन्दुस्तान के दूसरे हिस्सों में भी, ख़ासकर बंगाल और पंजाब में, इसी तरह के और भी बहुत से संगठन क़ायम हो चुके थे। मौलाना उबेदुल्ला सिन्धी ने इन संगठनों से भी अपना ताल्लुक़ क़ायम करने की कोशिश की जिसका ज़िक्र हिन्दुस्तान के एक बहुत बड़े क्रान्तिकारी श्री शचीन्द्र नाथ सान्याल ने अपनी किताब 'बन्दी जीवन' में किया है।

इसके कुछ दिन बाद ही यूरप में लड़ाई के नगाड़े गनगना उठे। मौलाना महमूदुलहसन साहब ने इस मौक़े से फ़ायदा उठाना चाहा और मौलाना उबेदुल्ला सिन्धी को काबुल जाने के लिये कहा। मौलाना महमूदुलहसन साहब की आदत थी कि वह नज़दीक से नज़दीक के आदमी को भी सिर्फ़ उतनी ही बातें बताते थे जितनी बताना ज़रूरी

होता था। इस वजह से मौलाना उबेदुल्ला नहीं जानते थे कि काबुल में मौलाना महमूदुलहसन साहब का कितना असर है। इधर वह देहली में काफ़ी काम कर चुके थे, इस लिये उनकी राय काबुल जाने की नहीं थी। इसी वजह से जब एक दिन मौलाना महमूदुलहसन साहब ने अकस्मात ही मौलाना उबेदुल्ला से कहा—"उबेदुल्ला! काबुल जाओ" तो उबेदुल्ला साहब ने कुछ हैरानी के साथ पूछा —"क्यों?" मौलाना महमूदुलहसन साहब ने इसका कुछ जवाब न दिया और ख़ामोश होगए। दूसरे दिन भी उन्होंने मौलाना उबेदुल्ला से इसी तरह कहा और मौलाना के काबुल जाने की वजह पूछने पर ख़ामोश होगए। लेकिन उनकी आँखों में थोड़ी सी नाराज़ी की झलक उबेदुल्ला साहब को महसूस हुई। इससे मौलाना उबेदुल्ला को बड़ा धक्का लगा और वह यह इन्तज़ार करने लगे कि उनको फिर काबुल जाने का हुक्म मिले और वह उसकी तामील कर सकें।

दो चार दिन बाद ही मौलाना महमूदुलहसन साहब ने मौलाना उबेदुल्ला से फिर कहा—'उबेदुल्ला काबुल! जाओ।" उबेदुल्ला साहब ने यह सुनते ही "हाँ" करदी और काबुल जाने की तय्यारियाँ शुरू कर दीं। उस वक़्त उनके पास इतना पैसा नहीं था कि इस सफ़र का इन्तज़ाम कर सकें, लेकिन इसका ज़िक्र मौलाना महमूदुलहसन साहब से करना उनको अच्छा न लगा। आख़िर उनके एक शागिर्द शेख़ अब्दुल रहीम (आचार्य कृपलानी जी के बड़े भाई) ने अपनी बीबी के ज़ेवर बेच कर इस सफ़र का ख़र्च जुटाया और मौलाना उबेदुल्ला अपने तीन साथियों को लेकर अगस्त १६१५ में हिन्दुस्तान की सरहद पार करके काबुल की तरफ़ चल पड़े। रास्ते में बहुत सी दिक़्क़तों का सामना करते हुए १५ अक्तूबर सन् १६१५ को मौलाना काबुल में दाख़िल हो गए। इस वक़्त उनके पास ख़र्च के लिये सिर्फ़ एक पौन्ड बचा था और उनको इतना भी मालूम नहीं था कि आख़िर इस बेगाने मुल्क में उनको क्यों भेजा

गया है। अपनी इस हालत का ज़िक्र करते हुए अपनी डायरी में उन्होंने एक जगह लिखा है—"सन् १६१५ में शेख़ुल हिन्द के हुक्म से काबुल गया। मुझे कोई मुफ़स्सिल प्रोग्राम नहीं बताया गया था, इसलिये मेरी तबियत इस हिजरत को पसन्द नहीं करती थी। लेकिन तामील हुक्म के लिये जाना ज़रूरी था। ख़ुदा ने अपने फ़ज़ल से निकलने का रास्ता साफ़ कर दिया और मैं अफ़ग़ानिस्तान पहुँच गया। दिल्ली की सियासी जमात को जब मैंने यह बताया कि मेरा काबुल जाना तय हो चुका है तो उसने भी अपना नुमाइन्दा मुझे बना दिया लेकिन कोई माक़ूल प्रोग्राम वह भी मुझे नहीं बता सके।" इन लफ़्ज़ों से ज़ाहिर होता है कि मौलाना उबेदुल्ला साहब डिसिप्लिन की पाबन्दी का कितना ख़याल रखते थे।

काबुल पहुँच कर भी मौलाना उबेदुल्ला साहब को बड़ी बड़ी तकलीफ़ें उठानी पड़ीं। शुरू शुरू में तो उनको काबुल सरकार ने नज़रबन्द करके जेल में बन्द कर दिया, जहाँ कुछ और भी हिन्दुस्तानी, जो इसी मक़सद से काबुल आये थे, बन्द थे। इसके बाद जर्मन टर्किश मिशन के साथ राजा महेन्द्र प्रताप काबुल पहुँचे। तब उन तमाम हिन्दुस्तानियों के साथ मौलाना उबेदुल्ला को भी रिहाई मिली। रिहा होने के बाद मौलाना उबेदुल्ला जनरल नादिर ख़ाँ से मिले जिनको मौलाना उबेदुल्ला के मिशन की ख़बर पहले ही लग चुकी थी। जनरल नादिर ख़ां ने मौलाना को हर तरह की मदद देने का वादा किया। इसके बाद ही काबुल में एक आरज़ी आज़ाद हिन्द सरकार बनाई गई और मौलाना उबेदुल्ला को उसमें होम मेम्बर का ओहदा दिया गया। इसके अलावा हिन्दुस्तान की आज़ादी के लिये लड़ने वालों की जो फ़ौज काबुल में खड़ी की जाने वाली थी, उसका जनरल भी मौलाना उबेदुल्ला साहब को ही बनाया गया। इसके अलावा हिन्दुस्तान में भी 'ख़ुदाई फ़ौज' के नाम

से एक फ़ौज का संगठन करना तय हुआ, जिसके सबसे बड़े कमान्डर मौलाना महमूदुलहसन साहब चुने गए।

मौलाना उबैदुल्ला सिन्धी ने इन तमाम फ़ैसलों की ख़बर मौलाना महमूदुलहसन साहब तक पहुँचाना ज़रूरी समझा। मौलाना महमूदुल-हसन साहब इस वक़्त मक्के में थे। मौलाना उबेदुल्ला साहब ने पीले रेशम पर उनके लिये एक ख़त लिखवाया, जो इस कारीगरी से लिखा गया था कि देखने में तो वह फूल से मालूम होते थे, लेकिन दर असल उसमें लड़ाई का तमाम नक़शा और इन तमाम कामों की रिपोर्ट थी। वह रेशम पर कढ़ा हुआ ख़त अब्दुल हक़ नाम के एक विद्यार्थी को सौंपा गया कि वह उसे शेख़ अब्दुर्रहीम तक पहुँचा दे। इसके बाद शेख़ अब्दुर्रहीम उसे मौलाना महमूदुलहसन साहब के पास तक पहुँचवा देते। लेकिन अब्दुलहक़ ने हिन्दुस्तान में आते ही यह ख़त ख़ान बहादुर हक़नवाज़ ख़ां को दे दिया और ख़ां साहब ने उसे सर माइकेल ओडायर तक पहुँचा दिया। इसका नतीजा यह हुआ कि अंगरेज़ों को यह तमाम भेद मालूम हो गया। मौलाना महमूदुलहसन साहब मक्के में फ़ौरन गिरफ़्तार कर लिये गए। शेख़ अब्दुर्रहीम के नाम भी वारंट निकला, लेकिन वह फ़रार हो गए। अंगरेज़ों ने काबुल के अमीर हबीबुल्ला ख़ां पर यह ज़ोर डाला कि वह मौलाना उबेदुल्ला सिन्धी और उनके साथियों को अँगरेज़ों के हवाले कर दें। अमीर हबीबुल्ला इस वक़्त अँगरेज़ों के हाथों की कठपुतली बने हुए थे। इस लिये वह इन तमाम लोगों को अंग्रेज़ों के हाथों में देने को भी तय्यार थे। लेकिन अमीर के छोटे भाई नसरुल्ला ख़ाँ और अमीर के लड़के अमानुल्ला ख़ाँ वग़ैरा अंगरेज़ों के ख़िलाफ़ थे। इन लोगों ने अमीर को ऐसा तो न करने दिया, फिर भी मौलाना को गिरफ्तार करके काबुल की जेल में तो डाल ही दिया गया। मौलाना ने जेल से भी अपने काम को जारी

रक्खा और वह अफ़ग़ानिस्तान की उस पार्टी को बराबर मदद करते रहे, जो अंगरेज़ों के ख़िलाफ़ थी।

कुछ दिन बाद १६ फ़रवरी सन् १६१६ को अमीर हबीबुल्ला ख़ाँ अंगरेज़ों से मिले रहने की अपनी पालिसी के कारन क़त्ल कर दिये गए और अमानुल्ला ख़ाँ काबुल की गद्दी पर बैठे। अमानुल्ला ख़ाँ ने सबसे पहला काम यह किया कि उबेदुल्ला साहब और उनके साथियों को जेल से छोड़ दिया और मौलाना से अपने राजकाजी मामलों में भी सलाह लेने लगे।

इस वक़्त तक यूरोप की बड़ी लड़ाई ख़त्म हो चुकी थी, जिसमें हालाँकि अंगरेज़ जीत गये थे लेकिन उनकी तमाम ताक़त ख़र्च हो चुकी थी। इधर हिन्दुस्तान में रौलट बिल के ख़िलाफ़ सत्याग्रह चालू था और पंजाब में तो सिर्फ़ मार्शलला के बल पर हुकूमत चलाई जा रही थी। उबेदुल्ला साहब ने महसूस किया कि अगर इस वक़्त काबुल हिन्दुस्तान पर चढ़ाई कर दे तो काबुल और हिन्दुस्तान दोनों ही अंगरेज़ों के पंजों से छूट सकते हैं। उन्होंने बादशाह अमानुल्ला ख़ाँ साहब के सामने अपना यह ख़याल रक्खा। इसका यह नतीजा हुआ कि ६ मई सन् १६१६ को यकायक अफ़ग़ानिस्तान ने अंगरेज़ों के ख़िलाफ़ लड़ाई का ऐलान कर दिया। इस ऐलान के होते ही सरहद के आज़ाद क़बीले भी मौलाना उबेदुल्ला साहब के एक दूसरे साथी तुरंगज़ई के हाजी साहब की रहनुमाई में अंगरेज़ों के ख़िलाफ़ खड़े हो गए। यह लड़ाई २४ जुलाई तक चली। इसके बाद अंगरेज़ों को अफ़ग़ानिस्तान से सुलह करनी पड़ी, जिसके मुताबिक़ अफ़ग़ानिस्तान की मुकम्मल आज़ादी मंज़ूर की गई और उसे दूसरे दूसरे मुल्कों से बिना अंगरेज़ों की इजाज़त लिये अपने सम्बन्ध क़ायम करने का इख़्तियार दिया गया। इसके बदले में अंगरेज़ सरकार की तरफ़ से यह शर्त रक्खी

गई कि काबुल की सरकार मौलाना उबेदुल्ला को कोई सियासी काम काबुल में नहीं करने देगी। इस शर्त का नतीजा यह हुआ कि मौलाना उबेदुल्ला ने काबुल हमेशा के लिये छोड़ दिया। काबुल की सरकार मौलाना की तमाम ज़रूरतों को पूरा करने के लिये तय्यार थी, लेकिन मौलाना उबेदुल्ला साहब के दिल में तो हिन्दुस्तान की आज़ादी की चाह थी। इस लिये वह इस शर्त को मंजूर ही कैसे कर सकते थे। वह इस बात को अच्छी तरह जानते थे कि काबुल छोड़ते ही उनको सख़्त तकलीफ़ें, ख़ास कर रुपये पैसे की, भारी तंगी उठानी पड़ेगी। लेकिन उन्होंने कुछ दिन बाद ही काबुल छोड़ दिया। इसी बीच उन्होंने एक ख़ास काम यह भी किया था कि काबुल म कांग्रेस की एक शाख़ क़ायम कर दी जिसको आल इन्डिया कांग्रेस कमेटी ने अपने गया सेशन में मंजूर भी कर लिया। कांग्रेस की यह पहिली शाख़ थी जो हिन्दुस्तान से बाहर किसी दूसरे मुल्क में क़ायम हुई थी।

काबुल छोड़ने के बाद मौलाना उबेदुल्ला रूस पहुँचे और क़रीब सात महीने तक मास्को में रहकर कम्यूनिज़म के उसूलों को पढ़ते और समझते रहे। लेकिन वह कम्यूनिस्ट पार्टी में शरीक न हो सके। क्योंकि ख़ुदापरस्ती और दूसरी मज़हबी बातों के लिये इस कम्यूनिज़म में कोई गुंजायश उनको न दिखलाई दी। इसके बाद वह तुर्की पहुँचे और वहां क़रीब तीन साल तक रहे। यहां उन्होंने 'पैन इस्लामिक' की तहरीक पर काफ़ी ग़ौर किया। लेकिन उसमें कामयाबी की कोई उम्मीद दिखाई नहीं दी। आख़िर वह इस नतीजे पर पहुँचे कि इन्डियन नेशनल काँग्रेस में ही इसलाम की मज़हबी तहरीक को भी शरीक कर दिया जाय। इस पर उन्होंने एक किताब लिखी जो तुर्की में ही छपी। इसी ज़माने में लाला लाजपतराय और डाक्टर अन्सारी साहब भी घूमते घामते तुर्की पहुँचे। मौलाना उबेदुल्ला हिन्दुस्तान के इन दोनों नेताओं से मिले। इसके कुछ दिन बाद ही इटली जाकर वह पं० जवाहरलाल

जी से भी मिले और उनसे भी अपने इस प्रोग्राम पर बातचीत की। इस प्रोग्राम की ख़ास बात यह थी कि उसमें अहिंसा पर बहुत ज़ोर दिया गया था। जवाहर लाल जी ने अपनी मशहूर किताब 'मेरी कहानी' में मौलाना के इस प्रोग्राम को "हिन्दू मुसलमानो के सवाल को हल करने की एक काफी अच्छी कोशिश" बताया है।

इसके बाद मौलाना कुछ दिनो तक इसी तरह एक मुल्क से दूसरे मुल्क मे घूमते रहे। न पास मे पैसा, न कोई साथी और न कोई हमदर्द। ब्रिटिश हुकूमत के ख़ुफ़िया हर वक़्त मौलाना के साथ लगे रहते थे और परेशान करते रहते थे। पर इन तकलीफ़ो के बावजूद मौलाना अपनी धुन मे लगे रहते थे।

कुछ दिन बाद मौलाना को मालूम हुआ कि मक्का में एक ख़िलाफ़त कानफ्रेन्स होने वाली है जिसमें हिन्दुस्तान के नुमाइन्दे भी हिस्सा लेंगे। मौलाना ने इस मौके पर मक्का पहुँचना ज़रूरी समझा और वह इटली के रास्ते मक्के के लिये चल पड़े। वह जब मक्का पहुँचे, तब तक कानफ्रेन्स खत्म हो चुकी थी और हिन्दुस्तान के नुमाइन्दे भी वहाँ से चल दिये थे। इसके बाद मौलाना ने मक्का मे ही रहना तय किया और यहीं पढना पढाना शुरू कर दिया।

सन् १६३६ में कांग्रेस ने मौलाना को हिन्दुस्तान आने की इजाज़त देने के लिये आवाज उठाई। कुछ दिन बाद सिन्ध मे खान बहादुर अल्लाबख्श की सरकार बनी और कॉंग्रेस को अपनी इस तहरीक में कामयाबी हुई। १ नवम्बर सन् १६३७ को ब्रिटिश हुकूमत से मौलाना को यह इत्तला मिली कि वह हिन्दुस्तान आ सकते हैं। १ जनवरी सन् ३८ को मौलाना ने पासपोर्ट भी हासिल कर लिया और वह हज करके क़रीब २२ साल बाद अपनी प्यारी जनम भूमि की गोद में वापस आ-गए। यहाँ आकर पहिले वह अपने तमाम पुराने साथियों से मिले और उसके बाद दिल्ली में रह कर शाह वलीउल्लाह के उसूलों का प्रचार

करना उन्होंने शुरू कर दिया, जो वह अपनी आख़िरी साँस तक करते रहे। जिलावतनी की तकलीफ़ें और परेशानियाँ उनके देशभक्ती के जज़बे को कम नहीं कर सकी थीं।

मौलाना का इन्तक़ाल २१ अगस्त १९४४ को दीनपुर (भावलपुर) में हुआ। अपने आख़िरी वक़्त तक वह हिन्दू मुसलिम एकता के ज़बरदस्त हामी रहे। वह अक्सर कहा करते थे कि सबसे बड़ी ख़ुदापरस्ती यही है कि हम सभी इनसानों से, फिर चाहे वह किसी भी क़ौम या मज़हब के हों, सच्चे दिल से मुहब्बत करें। अपने एक मज़मून में उन्होंने अपने इस ख़याल को ज़ाहिर करते हुए लिखा था—

"ईमान बेइलिल्लाह या ख़ुदापरस्ती की एक मंज़िल इन्सानियत दोस्ती भी है। अगर आदमी यह मानता है कि सारे इनसान उसी के पैदा किये हुए हैं। और उसको ख़ालिक़ से हक़ीक़ी मुहब्बत है, तो लाज़मी है कि उसे उसकी मख़लूक़ से भी मुहब्बत हो और अगर उसे उसकी मख़लूक़ से मुहब्बत नहीं, तो यह समझिये कि वह ख़ुदा की मुहब्बत के दावे में सच्चा नहीं। हमारे सूफ़ियायकराम ने तो ख़ुदापरस्ती की अमली शकल में इनसानियत दोस्ती को ही असल दीन क़रार दिया था। उनका तो यह अक़ीदा हो गया था कि जिसे सिर्फ़ अपने गिरोह और जमात से मुहब्बत है और जो दूसरों को, जो हम-अक़ीदा नहीं हैं, नफ़रत की निगाह से देखता है, वह सच्चा मूहिद और ख़ुदापरस्त ही नही है।"

काश! आज का हिन्दुस्तान अपने इस देशभक्त शहीद के इन सोने के हरूफ़ों में लिखे जाने लायक लफ़्ज़ों का असली मरम समझ सके और उन पर अमल कर सके।

—:०:—

# हाजी फ़ज़ल वाहिद

हिन्दुस्तान की पच्छिमी उत्तरी सरहद पर बसा हुआ क़बाइली इलाक़ा और उसमें रहने वाली पठान कौम हमेशा इस बात के लिये मशहूर रही है कि उसने कभी पूरी तरह से न तो अंगरेज़ों की गुलामी ही मंज़ूर की और न उसने कभी ब्रिटिश हुकूमत को चैन से ही बैठने दिया। अंगरेज़ों ने शुरू से ही वहां पर अपनी पूरी फ़ौजी ताक़त लगाई और अपनी आदत के मुताबिक़ पठानों में फूट डालने और उनको फुसलाने, ललचाने की भी पालसी बरती। लेकिन पठान किसी न किसी सरदार की मातहती मे अंगरेज़ों के ख़िलाफ़ बग़ावत करते ही रहे। अंगरेज़ों के प्रचार ने पठानों की इस आज़ादी की लड़ाई को लूट मार के नाम से बदनाम किया और उनके बहादुर नेताओं को भी लुटेरे और डाकू की शक्ल में जनता के सामने पेश किया। यही वजह है कि हाजी फ़ज़ल वाहिद साहब भी, जिनको आम जनता 'तुरंगजई के हाजी' के नाम से ही जानती पहिचानती है, हमारे नज़दीक सरहद के और लुटेरे क़बाइली सरदारों की तरह फ़क़त एक हिम्मतवर लुटेरे सरदार ही बन कर रह गए, और उनकी शख़्सियत की बलन्दी और हिन्दुस्तान की आज़ादी की लड़ाई में उनकी अहमियत को सिर्फ़ इने गिने लोग ही जान सके।

हाजी फ़ज़ल वाहिद साहब दर असल वलीउल्लाही आन्दोलन के ही एक नेता थे, जिनकी पीरी मुरीदी का सिलसिला वलीउल्लाही जमात की उस शाख़ से मिलता था जो सन् १८२४ में सय्यद अहमद साहब बरेलवी की लीडरी में अंगरेज़ों के दोस्त सिक्खों से लड़ने के लिये सरहद पर चली आई थी। सय्यद अहमद साहब के मरने के बाद

उनके शागिर्दों ने उनके काम को जारी रक्खा और जब सन् १८४६ में सरहद का यह इलाक़ा अङ्गरेज़ों की हुकूमत में आगया, तो सतियाना नाम के पहाड़ी मुक़ाम पर उन्होंने अपनी छावनी बना कर अंगरेज़ों से लड़ना शुरू कर दिया। सन् १८५८ में अंगरेज़ों ने जब इस छावनी को बर्बाद कर दिया तो यहीं के लोग पेशावर से उत्तर पूरब की तरफ़ बसे हुए मलका गांव में जाकर रहने लगे। इस पर सन् १८६३ के अक्तूबर महीने में अंगरेज़ों ने क़रीब ५००० फ़ौज लेकर मलका पर भी चढ़ाई कर दी और दो महीने की घनघोर लड़ाई के बाद मलका को तहस नहस कर दिया। इसके बाद इन लोगों को, जो अपने को 'मुजाहिदीन' कहते थे, बिखर जाना पड़ा और उन्होंने अलग अलग क़बीलों में जाकर अंगरेज़ों से लड़ने के लिये अलग अलग सगठन बनाने शुरू कर दिये। इन लोगों में से ही एक थे मौलाना नज्मुद्दीन साहब, जिनका सरहद की तवारीख़ में 'मुल्ला हुद्दा' के नाम से जिक्र मिलता है और जिन्होंने अपनी ज़िन्दगी भर कभी अँगरेजों को चैन से नहीं बैठने दिया।

हाजी फ़ज़ल वाहिद साहब इन मुल्ला हुद्दा के ही शागिर्द और ख़लीफ़ा थे इस लिये जब मुल्ला हुद्दा का इन्तक़ाल हुआ, तो उनके तमाम शागिर्दों और मुरीदों ने हाजी फ़ज़ल वाहिद साहब को ही अपना नेता चुना। उस वक़्त हाजी फ़ज़ल वाहिद साहब अपने तमाम ख़ानदान के साथ अपने गांव तुरंगज़ई में रहते थे। तुरंगज़ई पेशावर ज़िले की चारसद्दा तहसील में है और सरहदी गान्धी ख़ान अब्दुलग़फ़्फ़ार ख़ां साहब के गांव उतमानज़ई से सिर्फ़ एक मील की दूरी पर है। तुरंगज़ई गांव के बाशन्दे होने की वजह से ही हाजी फ़ज़ल वाहिद साहब 'हाजी तुरंगज़ई' के नाम से मशहूर हुए।

अपने गुरू की मसनद पर बैठ जाने के बाद मुजाहिदीन के रिवाज के मुताबिक हाजी फ़ज़ल वाहिद साहब के लिये यह लाज़िमी था कि वह

अँगरेज़ों के ख़िलाफ़ लड़ाई का ऐलान कर दें। उनके दूसरे-दूसरे साथियों ने इसके लिये हाजी साहब पर ज़ोर भी बहुत डाला। लेकिन हाजी साहब ने ऐसा करने से इनकार कर दिया। क्योंकि इस तरह बिना मौक़ा देखे हुए लड़ते रहना वह सिर्फ़ अपनी बरबादी को दावत देना समझते थे। उनका कहना था कि इस तरह की लड़ाई में अभी तक पठान क़ौम अपने हज़ारों रुपयों को खो चुकी है। लेकिन अंग्रेज़ों की ताक़त और हुकूमत का फैलाव सरहद में बढ़ता ही गया है। इसका साफ़ मतलब यह है कि हम सिर्फ़ लड़ने के लिये ही लड़ते रहे हैं जो अक़लमन्दी और दूरन्देशी की बात नहीं है। इस लिये अब हमको पहिले अपनी ताक़त बढ़ानी चाहिये और क़बाइली इलाक़े से बाहर रहने वाले पठानों और ग़ैर पठानों में भी आज़ादी की चाह पैदा करनी चाहिये, जिससे अँगरेज़ों से लड़ाई छिड़ने पर हमारे यह भाई हमारे मुक़ाबले में न आवें और हम अंगरेज़ी हुकूमत पर कोई करारी चोट कर सकें।

सरहद की तवारीख़ में इस तरह हाजी फ़ज़ल वाहिद साहब पहिले नेता थे, जिन्होंने पठानों की आज़ादी के मसले को पूरे हिन्दुस्तान की आज़ादी के मसले के साथ मिलाकर सोचा और 'जिहाद' के मज़हबी जोश से अलग रह कर उस पर एक सियासी लीडर की तरह ग़ौर किया। यह ठीक है कि अगर इसी तरह की बातें कोई दूसरा लीडर कहता, तो उसके साथी पठान ही, अपने उस लीडर को अंग्रेज़ों का भेदिया समझते और उसकी बोटी-बोटी उड़ा देते, लेकिन हाजी फ़ज़ल वाहिद साहब की सचाई, नेकचलनी और ख़ुदा परस्ती का उनके साथियों पर इतना गहरा असर था कि किसी ने भी हाजी साहब के इस ख़याल के ख़िलाफ़ चूँ तक नहीं की और उनके कहने के मुताबिक़ चलना मंज़ूर कर लिया। इससे साबित होता है कि शुरू से ही हाजी साहब ने अपने साथियों का कितना यक़ीन हासिल कर लिया था।

इसके बाद हाजी साहब ने पूरे हिन्दुस्तान की सियासत पर ग़ौर

किया और उन्होंने यह खोज करनी शुरू की कि हिन्दुस्तान की सियासी पार्टियों में कौन सी पार्टी उनकी मदद कर सकती है। उसी वक़्त वली उल्लाही जमात के छटे इमाम मौलाना महमूदुल हसन साहब भी सरहदी सूबे से अपना ताल्लुक़ क़ायम करने की फ़िक्र में थे। नतीजा यह हुआ कि सन् १६०६ के क़रीब हाजी फ़ज़ल वाहिद साहब और मौलाना महमूदुल हसन साहब में ख़तों के ज़रिये कुछ जान पहिचान हुई। पहले हाजी साहब ने क़बाइली इलाक़े के कुछ लड़कों को पढ़ने के बहाने देवबन्द भेजा, और जब उन लड़कों से यह मालूम कर लिया कि मौलाना महमूदुल हसन साहब हिन्दुस्तान की आज़ादी सचमुच ही चाहते हैं और उसके लिये सब तरह की क़ुरबानी करने को तय्यार हैं, तो उन्होंने भी मौलाना महमूदुल हसन साहब को अपना नेता मान लिया। इस तरह वलीउल्लाही जमात की इन दोनों शाख़ों का रिश्ता, जो सन् १८२५-२६ में टूट गया था, फिर से क़ायम हो गया।

इसके क़रीब दो साल बाद हाजी फ़ज़ल वाहिद साहब ने अपने इलाक़े में मदरसे क़ायम करने शुरू किये। इन मदरसों में यूँ देखने के लिये तो देवबन्द के मदरसे की तरह मज़हबी तालीम होती थी, लेकिन हाजी साहब का इरादा था कि इन मदरसों के ज़रिये ही पठानों में आज़ादी का सन्देश फैलाया जाय। तालीम के लिये उस वक़्त तक सरहद में इस तरह का कोई इन्तज़ाम नहीं था। इस लिये पठानों ने हाजी साहब के इस काम को बहुत पसन्द किया और ख़ान अब्दुलग़फ़्फ़ार ख़ाँ साहब तो पहले पहल इन मदरसों की वजह से ही क़ौमी काम के मैदान में आए। इसी लिये ख़ान अब्दुलग़फ़्फ़ार ख़ाँ साहब आज भी हाजी फ़ज़ल वाहिद साहब को अपना और तमाम सरहद का सबसे पहिला सियासी पेशवा मानते हैं।

हाजी साहब के यह मदरसे कुछ दिन तक तो चले, लेकिन उसके

बाद ही अलीगढ़ यूनीवर्सिटी के एक विद्यार्थी अनीस अहमद के ज़रिये अंगरेज़ों को यह मालूम हो गया कि हाजी साहब का कुछ ताल्लुक़ देवबन्द के मदरसे से भी है। इसका नतीजा यह हुआ कि सरहद के अंगरेज़ हाकिमों ने उन स्कूलों को ज़बरदस्ती बन्द करा दिया और हाजी साहब पर कड़ी नज़र रखनी शुरू कर दी। उस वक़्त कुछ अँगरेज़ हकिमों की राय तो हाजी साहब को गिरफ़्तार कर लेने की भी थी, लेकिन सरहद पर हाजी साहब का जैसा असर था, उसको देखते हुए अंगरेज़ों को ऐसा करने की हिम्मत नहीं हुई। सिर्फ़ उन्होंने बहुत से जासूस हाजी साहब के पीछे लगा दिये।

हाजी साहब इस हालत में भी घबराये नहीं और उन्होंने चुपचाप अपने काम को जारी रक्खा। इतनी निगरानी होने के बावजूद भी मदरसा देवबन्द और मौलाना महमूदुल हसन साहब से उनका ताल्लुक़ बराबर बना रहा और वह पठानों में आज़ादी का प्रचार करते रहे।

कुछ दिन बाद ही जब सन् १६१४ में योरप में लड़ाई शुरू हुई, तो मौलाना महमूदुल हसन साहब ने हाजी साहब को यह सन्देश भेजा कि हम लोगों को इस मौक़े से फ़ायदा उठाकर अंगरेज़ों के ख़िलाफ़ फ़ौरन लड़ाई शुरू कर देनी चाहिये। यह सन्देश पाते ही, २० जून १६१४ को हाजी साहब अपने तमाम ख़ानदान के साथ चुपचाप ब्रिटिश इलाक़े से निकल कर क़बाइली इलाक़े में चले गये और उन्होंने अंगरेज़ों के ख़िलाफ़ लड़ाई का ऐलान कर दिया। इस ऐलान का होना था कि क़बाइली पठानों की फ़ौजें जगह जगह इकट्ठी होनी शुरू हो गईं, जिसके सुप्रीम कमान्डर हाजी साहब चुने गए। इन फ़ौजों ने सब से पहिला हमला, १७ अगस्त को अम्बेला दर्रे में होकर ब्रिटिश इलाक़े पर किया और उस पर क़ब्ज़ा भी कर लिया. जो कई दिनों तक बना रहा। इसके

बाद ऊपरी स्थान की तरफ़ से एक हमला किया गया और वहाँ की चौकियों से अंगरेज़ी फ़ौजों को भगा दिया। इसी तरह कई और हमले भी जगह जगह किये जिनमें अंग्रेज़ों की कई पलटनें सफ़ा कर दी गईं।

इन लड़ाइयों से हाजी साहब इस नतीजे पर पहुँचे कि जब तक हमारे पास रसद और हथियारों का अच्छा इन्तजाम नहीं होगा, तब तक कामयाबी मिलना मुश्किल है। इन चीज़ों का इन्तज़ाम करने के लिये हाजी साहब ने मौलाना महमूदुल हसन साहब को लिखा। इस पर मौलाना ने अपने शार्गिद मौलवी उबेदुल्ला सिन्धी को काबुल भेजा और ख़ुद मक्का-मदीना पहुँच कर ग़ालिब पाशा वग़ैरा से मिले। लेकिन कुछ ऐसी मुश्किलें सामने आईं कि न तो हाजी साहब को काबुल से ही मदद मिल सकी और न टर्की सरकार से ही। नतीजा यह हुआ कि हाजी साहब की तमाम फ़ौजें धीरे धीरे बिखर गईं और मुल्क की आज़ादी का उनका सपना पूरा न हो सका। इसी बीच मौलाना सैफ़ुर्रहमान वग़ैरा हाजी साहब के कुछ साथी भी अंग्रेज़ों से जा मिले और उन्होंने हाजी साहब को पकड़वाने के भी जाल रचे, लेकिन हाजी साहब की होशियारी की वजह से वह अपनी इन कोशिशों में कमयाब न हो सके।

योरप की लड़ाई ख़त्म होते ही एक तरफ़ तो हिन्दुस्तान में रौलट बिल के ख़िलाफ़ तहरीक शुरू हुई और दूसरी तरफ काबुल के नए बादशाह अमानुल्ला ख़ां साहब ने हिन्दुस्तान पर चढ़ाई कर दी। काबुल से होने वाली इस चढ़ाई में हाजी साहब का पूरा हाथ पहिले से ही था, क्यों कि बादशाह अमानुल्ला से यह तय हो चुका था कि हिन्दुस्तान से अंग्रेज़ी सलतनत ख़त्म करने में हिन्दुस्तानी काबुल की मदद करेंगे, जिसके बदले में काबुल हिन्दुस्तान की आज़ादी मंज़ूर करेगा। इसी वजह से हाजी फ़ज़ल वाहिद साहब ने इस लड़ाई में भी पूरा हिस्सा लिया और अंग्रेज़ों को गहरा नुक़सान पहुँचाया। लेकिन कुछ

ही दिन बाद काबुल सरकार और ब्रिटिश सरकार में सुलह हो गई, जिसके मुताबिक़ काबुल की मुकम्मल आज़ादी अंग्रेज़ों ने मंज़ूर कर ली। अपनी आज़ादी मंज़ूर कराकर काबुल की फ़ौजें वापस लौट गईं और हाजी साहब को फिर एक बार नाकामयाबी का कड़ुआ फल खाना पड़ा। लेकिन फिर भी वह हिम्मतके साथ अपने उसूलों पर जमे रहे और उन्होंने दूसरे क़बाइली सरदारों की तरह ब्रिटिश हुकूमत से कभी माफ़ी की दरख़ास्त नहीं की।

इसके बाद सन् १९२०-२१ में तमाम हिन्दुस्तान की तरह सरहद में भी असहयोग की आँधी उठी, जिसकी रहबरी हाजी साहब के पुराने साथी ख़ान अब्दुलग़फ़्फ़ार ख़ाँ साहब कर रहे थे। इसी बीच मौलाना महमूदुल हसन साहब भी माल्टा की नज़रबन्दी से रिहा हो कर हिन्दुस्तान वापस आ गये थे और उन्होंने इस तहरीक में दिलचस्पी लेना शुरू कर दिया था। हाजी साहब ने भी इस आन्दोलन में दिलचस्पी लेना शुरू किया। लेकिन ब्रिटिश इलाक़े से बाहर रहने के कारण वह इसमें कोई ख़ास हिस्सा नहीं ले सके। हाँ, उन्होंने इतना ज़रूर किया कि जब तक असहयोग चलता रहा, उन्होंने अपने असर के क़बीलों को शांत बनाए रक्खा, जिससे अंग्रेज़ हुकूमत क़बाइलियों की बग़ावत का बहाना लेकर उन पठानों पर ज़्यादा ज़ुल्म नहीं कर सकी, जो इस तहरीक में हिस्सा ले रहे थे।

असहयोग की तहरीक के ही ज़माने में हिजरत की भी आंधी उठी, जिसमें हज़ारों मुसलमान हिन्दुस्तान से निकल कर काबुल और दूसरी दूसरी इसलामी हुकूमतों में बसने के लिये चले गये। हाजी साहब ने उस वक़्त हिजरत करने वाले लोगों की पूरी पूरी मदद की और जो लोग उनके इलाक़े से होकर निकले उनकी पूरी तरह से हिफ़ाज़त की। इसी हिजरत के सिलसिले में जब ख़ान अब्दुलग़फ़्फ़ार ख़ाँ साहब काबुल

गये थे, तब आते जाते हुए हाजी साहब से उनकी भी मुलाक़ात हुई थी।

इसके बाद हाजी साहब ने पश्तो में एक अख़बार निकालना शुरू किया जिसके पश्तो नाम का तरजुमा 'चिनगारी' होता है। यह अख़बार शायद पश्तो में निकलने वाला पहिला अख़बार था जो पहाड़ियों की छिपी हुई गुफाओं में छापा जाता था। सन् १९२४ से सन् १९२८-२९ तक जब तमाम हिन्दुस्तान की तरह सरहद में भी हिन्दू मुसलमानों के बीच तनाव फैला हुआ था, तब इस अख़बार के ज़रिये हाजी साहब ने लोगों को सही रास्ता दिखाने में बहुत बड़ा काम किया था। इस तरह हाजी साहब एक बाअसर मौलवी, एक ऊँचे दर्जे के कमान्डर और एक दूरन्देश लीडर होने के साथ साथ एक अच्छे अख़बार नवीस भी थे।

इसके बाद सन् १९३०-३१ में जब फिर कांग्रेस ने आज़ादी की लड़ाई का ऐलान किया, तो हाजी साहब की पूरी हमदर्दी उसके साथ थी। और जब सरकारी अफ़सरों ने ख़ुदाई ख़िदमतगारों पर दिल दहलाने वाले ज़ुल्म करने शुरू किये, तो बूढ़े हाजी साहब ने, जून १९३० में, महमन्दों और अफ़रीदियों के एक लशकर के साथ पेशावर पर हमला बोल दिया, जिसने कुछ समय के लिये तो अँग्रेज़ों को बड़ी भयानक मुशकिल में डाल दिया था।

सन् १९३० के बाद के किसी साल में हाजी फ़ज़लवाहिद साहब का इन्तक़ाल होगया। उस दिन सरहद के अँग्रेज़ हाकिम ने घी के चिराग़ जलाये और अभागे हिन्दुस्तानी यह जान भी न सके कि आज उनके देश का एक ऐसा देश भक्त सपूत हमेशा के लिये उनको छोड़ कर चला गया है जो अपनी ज़िन्दगी भर हिन्दुस्तान की आज़ादी के लिये लड़ता रहा और जिसके नाम से हिन्दुस्तान के दुश्मन थर थर कांपते थे।

वलीउल्लाही तहरीक की तवारीख़ में हाजी फ़ज़लवाहिद साहब की एक अलग कहानी है, जो बहुत कम लोगों की नज़रों में आई है। लेकिन उसकी अहमियत से इनकार नहीं किया जा सकता और सरहदी सूबे की सियासत का तो उनको 'पिता' कहा जा सकता है।

—:•:—

# मौलाना फजले हक खैराबादी

मौलाना फ़जलेहक़ ख़ैराबादी अपने ज़माने के एक बड़े रईस थे और इतने बड़े आलिम थे कि इसलामी फ़लसफ़े के उस ज़माने में दो चार आदमी ही उनका मुक़ाबला कर सकते थे। अरबी के शायर थे और इस मैदान में अरब तक में उनका लोहा माना जाता था। लेकिन उनकी मौत कालेपानी की एक अँधेरी कोठरी में हुई, क्यों कि उनको अपने देश से मुहब्बत थी और अपने देश पर वह किसी दूसरे की हकूमत बरदाश्त करने को तैयार नहीं थे।

बहुत से कारनों से आज तक इस शहीद का नाम और ज़िन्दगी का हाल रोशनी में नहीं आ सका। लेकिन अब वह जमाना आ गया है, अब हमें अपने इस देशभक्त शहीद को गुमनामी से निकाल कर उसे वह इज़्ज़त देनी चाहिये जिसका वह सच्चा हक़दार है।

ख़ानदान का हाल—मौलाना फ़जलेहक़ के बुजुर्ग बहुत पुराने ज़माने में ईरान के किसी सूबे पर हकूमत करते थे। किसी इन्क़लाबी तूफ़ान में उनकी वह हकूमत और शान शौकत बह गई और अपनी जान बचाने के लिये उनको हिन्दुस्तान चला आना पड़ा। अपनी आदत के मुताबिक़ हिन्दुस्तान ने उनको कलेजे से लगाया और फिर उनके नाती पोते कभी कहीं और कभी कहीं बसते उठते आख़िर ख़ैराबाद ज़िला सीतापुर में आकर मुस्तक़िल तौर पर रहने लगे। अपनी क़ाबलियत के बल पर यहाँ उन्होंने एक अच्छी जगीर हासिल की और फिर आसपास के इलाक़े में एक बड़े रईस समझे जाने लगे। लेकिन रईस होने पर भी जेहालत से हमेशा दुश्मनी रक्खी और ऊँचे दर्जे की पढ़ाई लिखाई और बलन्द कैरेक्टर की पूँजी को ही हमेशा अपनी सच्ची

जायदाद समझा। नतीजा यह हुआ कि बादशाह की नज़र में भी यह ख़ानदान आया और मौलाना फ़ज़्ले हक़ के दादा शाही नौकरी के सिलसिले में ख़ैराबाद से दिल्ली पहुँच गये। उनके बाद मौ० फ़ज़्ले हक़ के पिता मौलाना फ़ज़्ले इमाम तो आलिमों की महफ़िल के चराग़ समझे जाते थे। वह दिल्ली में ईस्ट इंडिया कम्पनी की तरफ़ से सदरुस्सुदूर यानी सबसे बड़े जज थे। साथ साथ शौक़ और फ़र्ज़ के तौर पर पढ़ाते भी थे। उनकी लिखी अरबी की कई किताबें अरबी लिट्रेचर में आज भी बहुत इज़्ज़त की नज़र से देखी जाती हैं।

**मौलाना का जन्म**—मौलाना फ़ज़्लेहक़ का जन्म सन् १७९७ में ख़ैराबाद में हुआ और उनकी परवरिश दिल्ली में हुई। उनके ख़ानदानी रिवाज के मुताबिक़ चार साल की उम्र में उनकी तालीम शुरू हुई। मौलाना के पिता को पढ़ाने का शौक़ तो था ही। वह शाही दरबार में पालकी में जाया करते थे। अक्सर फ़ज़्लेहक़ साहब उनके साथ होते थे और दरबार को जाने आने में जो समय लगता था, उसका उपयोग फ़ज़्लेहक़ साहब की पढ़ाई में होता था। कुछ बड़े हुए तो हिन्दुस्तान के मशहूर इन्क़लाबी और अपने ज़माने के सबसे बड़े आलिम शाह अब्दुल अज़ीज़ साहब के पास पढ़ने के लिये जाने लगे। इनके सहपाठी थे मुफ़्ती सदरुद्दीन 'आज़ुर्दा', जो एक दूसरे रईस के बेटे थे। इन दोनों के मिजाज में शोख़ी और गर्मी तो थी, जैसी कि अक्सर रईसों के बेटों में पाई जाती है, लेकिन शाह अब्दुल अज़ीज़ के मदरसे में पहुँचे तो वहाँ एक दूसरा ही रंग देखा। शाह अब्दुल अज़ीज़ फ़क़ीर क़िस्म के आदमी थे। उनका हाल यह था कि जिस दिन फ़ज़्लेहक़ साहब और सदरुद्दीन साहब ख़ुद किताबें लेकर आते उस दिन सबक़ पढ़ा देते थे और जिस दिन नौकर किताबें लेकर आता था, उस दिन पढ़ाने से इन्कार कर देते थे। फिर भी तेज़ ज़हन होने से इन दोनों को वह बहुत प्यार करते थे। मौलाना की याददाश्त बहुत अच्छी थी और फ़लसफ़े की बारीक़ियों में

दिमाग़ ख़ूब चलता था। नतीजा यह हुआ कि सन् १८०९ में सिर्फ़ १३ साल की उम्र में उन्होंने अपनी पढ़ाई पूरी करली और अपने पिता के शागिर्दों को पढ़ाने लगे।

इसी ज़माने की घटना है, एक बड़ी उम्र के साहब मौलाना के पिता के पास पढ़ने आया करते थे, लेकिन जब फ़ज़ले हक़ साहब अपनी पढ़ाई ख़त्म करके ख़ुद पढ़ाने लगे तो मौलाना के पिता ने अपने इस शागिर्द को भी मौलाना के पास ही भेज दिया। मौलाना ने पहिले ही दिन जब उनको बेहद सुस्त और कुन्दज़ेहन देखा, तो झुंझला उठे। किताब फेंक दी और कह दिया कि यह आपके बस का रोग नहीं है, मेहरबानी करके कल से तकलीफ़ न कीजियेगा। इस पर वह साहब बहुत रंजीदा हुए और उन्होंने तमाम क़िस्सा मौलाना के पिता को सुनाया। फ़ौरन मौलाना की तलबी हुई और जैसे ही मौलाना अपने पिता के सामने पहुँचे, उन्होंने एक थप्पड़ रसीद करते हुए कहा—"बेवक़ूफ़! तू यह नहीं सोचता कि तेरा जैसा दिमाग़ सब कहाँ से पा सकते हैं? तू मालदार का लड़का ठहरा! किसी चीज़ की कभी कमी महसूस नहीं की। जिसके पास बैठा, उसी ने ख़ातिरदारी से पढ़ाया। हमेशा अच्छा खाने को, अच्छा पहिनने को मिला। लेकिन इन बेचारों को यह सब कहाँ से मिले?" मौलाना ने अपनी ग़लती महसूस की और फिर आइन्दा कभी किसी शागिर्द पर नाराज़ नहीं हुए।

सरकारी नौकरी में—जब कुछ और बड़े हुए, तो अंग्रेज़ रेज़ीडेन्ट की अदालत में सरिश्तेदार हो गये। बादशाह अकबर शाह और रेज़ीडेन्ट दोनों ही मौलाना को बहुत मुहब्बत की नज़र से देखते थे।

सरकारी नौकर होते हुए भी मौलाना ने पढ़ाने का सिलसिला क़ायम रक्खा और इसमें बड़ी दिलचस्पी रखते थे। इसी ज़माने में शायरी का शौक़ हुआ, लेकिन उर्दू फ़ारसी को छोड़ कर अरबी में

शायरी करते थे। मशहूर शायर 'मोमिन' आपके शतरंज के दोस्त थे और ग़ालिब साहब के साथ तो दिन रात का उठना बैठना था। मुफ़्ती सदरुद्दीन साहब से भी ज़िन्दगी भर निभी। इस तरह नौकरी और पढ़ाने से जो वक़्त बचता वह तो शतरंज में जाता था या शेरो शायरी और लिट्रेचर की चर्चा में। शेर कहने की ऐसी मश्क़ हो गई थी कि चार हज़ार से ऊपर शेर उन्होंने कहे होंगे मौलाना की शायरी का एक बड़ा हिस्सा अब लिटन लाइब्रेरी अलीगढ यूनीवर्सिटी में आ गया है और कुछ अब भी इधर उधर फैला हुआ है। इनका कुछ कलाम अरब तक भी पहुँचा और उनको वहां बड़ी दाद मिली। अरबी ज़बान और अरबी शायरी पर मौलाना का इतना क़ब्ज़ा था कि एक बार अपने उस्ताद शाह अब्दुल अज़ीज़ से भी उलझ गये। मौलाना ने एक क़सीदा शाह साहब को सुनाया। शाह साहब को वह पसन्द आया, लेकिन उसके एक शेर पर उनको एतराज़ था। इस पर मौलाना ने क़रीब बीस शेर मुख़्तलिफ़ मशहूर शायरों के अपनी दलील की हिमायत में पढ़ दिये। शाह साहब ने अपनी ग़लती मंज़ूर की और मौलाना को आशीर्वाद देकर विदा किया।

कुछ दिन बाद दिल्ली में एक नया रेज़ीडेन्ट आया, तो उसने अपने महकमे का नाज़िम मौलाना को मुक़र्रर किया। सन् १८२८ में जब वह विलायत के लिये चला, तो मौलाना मुफ़्ती बनाए गये। लेकिन इसके बाद मौलाना की अफ़सरों से नहीं पट सकी। उस ज़माने के अंग्रेज़ जैसी .ख़ुशामद चाहते थे मौलाना वैसी .ख़ुशामद नहीं कर सकते थे। इसी ज़माने में शायद मौलाना को पहिली बार .ग़ुलामी की बुराई महसूस हुई और अंग्रेज़ों की नौकरी उनको ज़िल्लत मालूम होने लगी।

**दिल्ली से बाहर**—इसी नाराज़ी की वजह से मौलाना को सरकारी वकील बना कर इलाहाबाद भेजा गया। उस ज़माने में बहादुर शाह 'ज़फ़र' वली अहद यानी युवराज थे। मौलाना जब दिल्ली से जाने लगे

तो उन्होंने अपना क़ीमती शाल मौलाना को उढ़ा दिया और आँखों में आंसू भर कर विदा किया। मौलाना कुछ दिनों सरकारी वकील की हैसियत से काम करते रहे, लेकिन अंग्रेज़ों की तरफ़ से अब वह बददिल हो चुके थे। नतीजा यह हुआ कि कुछ ही दिनों बाद उन्होंने इस्तीफ़ा दे दिया।

**रियासतों में**—मौलाना के इस्तीफ़े की ख़बर जैसे ही फैली, झज्झर के रईस नवाब फ़ैज़ मुहम्मद साहब ने पांच सौ रुपया माहवार पर फ़ौरन मौलाना को अपने यहाँ बुला लिया। मौलाना कुछ दिनों वहीं रहे। इसके बाद अलवर चले गये। वहाँ भी जी न लगा तो सहारनपुर पहुँचे और फिर टोंक के नवाब वज़ीरुद्दौला के यहां भी कुछ दिन तक रहे। कुछ लोगों का ख़याल है कि मौलाना इतनी रियासतों में इसलिये घूमे कि अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ इनको लड़ने के लिये आमादा कर सकें। लेकिन इन रईसों और नवाबों का ख़ून सर्द हो चुका था, जिससे मौलाना को बड़ी निराशा हुई और फिर लखनऊ में आकर बड़े जज के ओहदे पर काम करने लगे।

लखनऊ में इस वक़्त नवाब वाजिद अली शाह की हुकूमत थी, लेकिन धीरे धीरे अंग्रेज़ों के पंजों में यह रियासत भी फंसती चली जा रही थी। नवाब साहब को अपनी रंग रेलियों से ही फ़ुरसत नहीं थी, फिर राजकाजी कामों में कौन दिमाग़ ख़र्च करे। नतीजा यह हुआ कि मौलाना का दिल यहाँ से भी ऊब गया और अच्छी भली नौकरी छोड़ कर रामपुर की राह ली। वहाँ कुछ दिनों तक नवाब यूसफ़ अली को पढ़ाते रहे। इसी ज़माने में यानी १८५५ के आस पास नवाब यूसुफ़ अली रामपुर की गद्दी पर बैठे तो मौलाना ने कोशिश करके अपने दोस्त ग़ालिब साहब की राहरस्म रामपुर रियासत से करा दी और नवाब साहब ग़ालिब के पास अपनी ग़ज़लें इस्लाह के लिये भेजने लगे। इसके बाद जब दिल्ली में कुछ सरगर्मी दिखाई दी और बादशाह की तरफ़ से राजाओं

नवाबों के पास ख़त आने शुरू हुए तो मौलाना अलवर पहुँचे और उन्होंने राजा को बादशाह का साथ देने के लिये समझाया। लेकिन राजा किसी तरह राज़ी नहीं हुआ।

**आज़ादी की लड़ाई के मैदान में**—मौलाना अब ख़ामोश नहीं बैठ सकते थे। वह फ़ौरन दिल्ली की तरफ़ चल दिये और रास्ते में बड़े बड़े ज़मींदारों से मिलते गये और उनको यह समझाते गये कि इस वक़्त आज़ादी की लड़ाई में हिस्सा लेने में ही उन की भलाई है। मौलाना फ़ज़लेहक मौ० अहमद अलीशाह दिलावर जंग मद्रासी से भी मिले, यह मौलाना अहमदुल्ला फ़ैज़ाबादी के नाम से भी मशहूर हैं और अवध की बग़ावत में यह जिस बहादुरी से दस महीने तक अंग्रेज़ों से लड़ते रहे उसने इतिहास में इनका नाम अमर कर दिया है।

**दिल्ली में**—कुछ दिन बाद मौलाना को मालूम हुआ कि दिल्ली अब आज़ाद हुकूमत के हाथ में है तो वह फ़ौरन दिल्ली पहुँचे और बादशाह से मिले। शाही दरबार के मुन्शी जीवन लाल के रोज़ नामचे में कई जगह मौलाना का ज़िक्र मिलता है और उससे यह भी मालूम होता है कि मौलाना बराबर बादशाह के मशविरों में शरीक हुआ करते थे।

लेकिन उस वक़्त दिल्ली की जो हालत थी उससे मौलाना को बड़ी तकलीफ़ हुई। ख़ुद शाहज़ादों की भी हालत यह थी कि दिन रात लूट खसोट पर उनकी नज़र रहती थी। गुन्डे, बदमाशों की बन आई थी और नाक़ाबिल लोग बड़े-बड़े ओहदों पर क़ब्ज़ा करके बैठ गये थे।

लेकिन इस हालत में भी रुहेलों की फ़ौज, जिसका जनरल बख़्त ख़ॉ था, सच्चे दिल से और सच्चे जज़्बे से लड़ाई में शरीक थी। इसी तरह का भरोसे लायक़ एक दूसरा संगठन मुजाहिदों का था, जिसकी बागडोर वलीउल्लाही मौलवियों के हाथों में थी। यह लोग अक्सर

मौलाना से मिलते रहते थे। ख़ास तौर पर जनरल बख़्त ख़ाँ मौलाना से मशविरा करके ही कोई काम करते थे, लेकिन शाहज़ादा मिर्ज़ा मुग़ल के सामने बेचारे बख़्त ख़ाँ की कुछ चलती नहीं थी। कुछ दिन बाद हालत यहाँ तक बिगड़ी कि मिरज़ा इलाही बख़्श ने बादशाह से कम्पनी के पास माफ़ी का ख़त तक भिजवा दिया, लेकिन अंग्रेज़ों ने उस पर भरोसा नहीं किया।

आख़िर बख़्त ख़ाँ के कहने पर मौलाना ख़ुद आगे बढ़े। जुमे की नमाज़ के बाद उन्होंने एक लम्बी तक़रीर जामा मसजिद में की और एक फ़तवा पेश किया, जिसके मुताबिक़ इस लड़ाई में शरीक होना हर एक मज़हबी आदमी का फ़र्ज़ था।

इस फ़तवे का जादू जैसा असर हुआ और क़रीब नब्बे हज़ार सिपाही बादशाह के झंडे के नीचे आ गये। लेकिन शाही ख़ानदान के होने के ज़ोम में जो लोग थे, उन्होंने इसका कोई फ़ायदा नहीं उठाया। हालत यह थी कि मिरज़ा इलाही बख़्श जैसे दग़ाबाज़ की पूछ थी और सच्चे वफ़ादारों को कोई पूछता भी नहीं था। मौलाना ने अपनी तरफ़ से काफ़ी ज़ोर लगाया। लेकिन बेचारे अकेले क्या करते। आख़िर १९ सितम्बर १८५७ को कम्पनी की फ़ौज ने दिल्ली पर क़ब्ज़ा कर लिया।

**ख़ाना बदोशी की ज़िन्दगी**—दिल्ली पर कम्पनी का क़ब्ज़ा होते ही मौलाना के तमाम अरमान मिट्टी में मिल गये। उसके बाद जो ख़ूँरेज़ी दिल्ली में हुई उसने एक बार क़यामत का नक़्शा आँखों के सामने खींच दिया। मौलाना ने जो फ़तवा दिया था उसकी ख़बर मुख़बिरों के ज़रिये अंग्रेज़ों को लग चुकी थी और मौलाना की बड़े ज़ोरों से तलाश की जा रही थी। इसी हालत में २४ सितम्बर १८५७ को मौलाना अपने ख़ानदान को लेकर चुपचाप दिल्ली से निकल गये और भीकमपुर ज़िला अलीगढ़ के नवाब साहब के यहाँ पनाह ली। वहाँ क़रीब १८ दिन रहे।

इसके बाद नवाब साहब ने भीकमपुर से क़रीब ८ मील दूर साँकरा के घाट से मौलाना और उनके ख़ानदान को बदायूँ की तरफ़ उतरवा दिया।

मौलाना क़रीब दो साल तक इधर-उधर ख़ानाबदोशी की ज़िन्दगी बिताते रहे। लेकिन कुछ ही दिन बाद मल्का विक्टोरिया का आम माफ़ी का एलान हुआ। इस पर मौलाना ज़ाहिर हो गये और अपने घर ख़ैराबाद में जाकर रहने लगे।

**गिरफ़्तारी और सज़ा**—लेकिन मौलाना सरकारी फ़ेहरिस्त के उन लोगों में थे, जिनको माफ़ी नहीं दी गई थी। इसलिये कुछ ही दिन बाद मौलाना गिरफ़्तार कर लिये गये और लखनऊ जाकर उन पर मुक़दमा चलाया गया।

मौलाना ने ख़ुद ही अपनी पैरवी की। इधर जज मौलाना का एक पुराना शागिंद था और मुख़बिर पर भी कुछ ऐसा असर पड़ा कि शनाख़्त के वक़्त उसने कह दिया कि फ़तवा देने वाले फ़ज़्लेहक़ यह नहीं हैं। इनको मैं नहीं जानता।

इस तरह मौलाना के छूटने की पूरी उम्मीद थी। लेकिन मौलाना को यह झूट गवारा न हुआ। उन्होंने अपने आख़िरी बयान में कहा कि मुख़बिर ने किसी वजह से मेरी शनाख़्त नहीं की है, लेकिन फ़तवा मैंने ही दिया था और आज भी मेरी वही राय है।

जज और गवाह हैरान थे और घर वाले परेशान थे, लेकिन मौलाना ने बात बदलने से इन्कार कर दिया। मौलाना को उम्मीद थी कि फाँसी की सज़ा मिलेगी, लेकिन जज ने रिआयत की और कालेपानी की सज़ा दी। मौलाना की यह हिम्मत देखकर सब दंग रह गये।

**कालेपानी में**—मौलाना कालेपानी पहुँचा दिये गये। वहाँ और भी बहुत से मौलवी थे। उन्होंने इनको हाथों हाथ लिया। लेकिन मौलाना

वहाँ दिन रात तड़पते रहते थे। कालेपानी में लिखी हुई उनकी किताब 'सूरतुल हिन्दिया' आँसुओं का एक बहता हुआ चश्मा है जिसमें एक-एक हरफ़ में मौलाना की तड़प मौजूद है। यह किताब कपड़ों पर कोयलों से लिखी गई और बड़ी मुश्किल से हिन्दुस्तान तक आई। मौलाना ने उसमें अपनी तकलीफ़ों का जो नक़्शा खेंचा है, उसे पढकर आज भी झुरझुरी आने लगती है।

इधर मौलाना की रिहाई की कोशिश भी हो रही थी। आख़िर मौलाना के बेटे शम्सुलहक़ रिहाई का परवाना लेकर अन्डमन रवाना हुए और जहाज़ से उतर कर जब शहर में गये तो देखा कि एक जनाज़ा चला आ रह है जिसके साथ बहुत भीड़ है। पूछने पर मालूम हुआ कि कल १२ सफ़र सन् १२७८ हिजरी यानी सन् १८६१ ईसवी में मौलाना फ़ज़लेहक़ साहब का इन्तिक़ाल हो गया और अब दफ़न करने के लिये ले जाया जा रहा है।

मुसाफ़िर अपनी आख़िरी मंज़िल पर पहुँच चुका था।

# मौलवी अहमद शाह

सन् १८५७ की हिन्दुस्तान की आज़ादी की लड़ाई की बाबत अक्सर यह कहा जाता है कि यह लड़ाई सिर्फ़ उन राजाओं, नवाबों और सामन्तों की बग़ावत थी, जिनकी जायदादें या भत्ते कम्पनी की सरकार ने ज़ब्त कर लिये थे। इसी लिये आम जनता का इस लड़ाई में कोई ख़ास हिस्सा नहीं था।

किसी हद तक यह बात ठीक भी है, लेकिन इस बात से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि उस सामन्तवादी ज़माने में भी हिन्दुस्तान में कुछ ऐसे दूरन्देश देशभक्त मौजूद थे, जिन्होंने इस कमज़ोरी को भाँप लिया था और आम जनता का पूरा सहयोग लेने की कोशिश की थी। ऐसे दूरन्देश देशभक्त नेताओं में एक ख़ास नाम मौलवी अहमद शाह का है।

मौलवी अहमद शाह फ़ैज़ाबाद ज़िले के एक बड़े ज़मींदार थे, लेकिन ज़मींदारो की ऐश परस्ती उनको छू भी नहीं गई थी। अपने अच्छे चाल चलन और राजकाजी व मज़हबी जानकारी के लिये वह इलाक़े भर में मशहूर थे और राजाओं व नवाबों के महलो से लेकर किसानों की मामूली झोंपड़ियों तक में उनका नाम बड़ी इज़्ज़त से लिया जाता था।

मौलवी अहमद शाह न तो सिर्फ़ मज़हबी किताबों में ही डूबे रहने वाले मौलवी थे, और न रिआया से टैक्स वसूल करके उस पर गुलछर्रे उड़ाने वाले ज़मींदार। मुल्क की सियासत से भी उनको गहरी दिलचस्प थी और उनको इस बात से बड़ा दुख होता था कि अंग्रेज़ों की ताक़त हिन्दुस्तान में धीरे धीरे बढ़ती चली जा रही है और कुछ अपने ही भाई

स्वार्थवश होकर अपने इस मुल्क को .गुलाम बनाने में अंग्रेज़ों की मदद कर रहे हैं। वह जब तब अपने इस ख़याल को ज़ाहिर भी किया करते थे। लेकिन उस ज़माने में आम जनता को सियासत से कोई दिलचस्पी नहीं थी और राजाओं नवाबों को ऐसी बातें सुनने से भी डर लगता था।

लेकिन सन् १८५६ में जब लार्ड डलहौज़ी ने निहायत बेशर्मी के साथ अवध के इलाक़े को कम्पनी के अधिकार म ले लिया और नवाब वाजिद अली शाह को क़ैद करके कलकत्ते भेज दिया गया तो मौलवी अहमद शाह इसे बर्दाश्त नहीं कर सके। उन्होंने समझ लिया कि इस तरह एक एक करके हर एक नवाब और राजा के साथ इसी तरह का बर्ताव होगा और पूरा देश अंग्रेज़ों के आधीन हो जायगा। इसके साथ ही मौलवी साहब ने यह भी महसूस किया कि आज़ादी की लड़ाई तब तक कामयाब नहीं हो सकेगी, जब तक कि इस देश की पूरी जनता इसमें हिस्सा न ले। इसीलिये न तो उन्होंने राजाओं नवाबों की ड्योढ़ियों के चक्कर लगाये और न वलीउल्लाही जमाअत के नेताओं की तरह सिर्फ़ मुसलमान जनता तक ही अपने प्रचार को महदूद रक्खा। मौलवी अहमद शाह ने हिन्दू मुसलमानों में एक साथ देश की आज़ादी के नाम पर अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ हथियार उठाने का प्रचार शुरू कर दिया। सन् १८५७ की आज़ादी की लड़ाई के दूसरे नेताओं और मौलवी अहमद शाह में यही ख़ास फ़र्क़ है, जो उनको कुछ .ज्यादा इज्ज़त का हक़दार बना देता है। काश, कुछ और नेता मौलवी अहमद शाह का साथ देते, तो शायद १८५७ की लड़ाई इस तरह से और इतनी जल्दी नाकामयाब नहीं होती।

मौलवी अहमद शाह के प्रचार का ढंग यह था कि वह लखनऊ से आगरा तक के बीच बराबर दौरे करते रहते थे और दस दस हज़ार आदमियों की भीड़ उनकी तक़रीर सुनने के लिये इकट्ठी होती थी। मौलवी अहमद शाह उनको बतलाते थे कि अंग्रेज़ किस तरह इस

मुल्क में बढ़ने गये और अगर पूरा मुल्क उनके क़ब्ज़े में चला गया तो उसका नतीजा आम जनता के लिये क्या होगा। इस तरह यह तक़रीरें सौ फ़ीसदी सियासी तक़रीरें होती थीं और मौलवी अहमद शाह की ज़बान में कुछ ऐसा जादू था कि कई कई घंटे तक यह हज़ारों आदमी बुत बने हुए उनकी तक़रीरें सुनते रहते थे और मुल्क की बेबसी पर आँसू बहाते रहते थे। उस ज़माने में मौलवी अहमद शाह शायद पहिले आदमी थे, जिन्होंने अपने प्रचार का यह तरीक़ा अपनाया था।

इसी ज़माने में मौलवी अहमद शाह ने बहुत सी छोटी छोटी किताबें भी लिखीं, जो पढ़े लिखे हल्क़े में बड़ी तादाद में बाँटी गईं। इन किताबों में भी वही बात थी, जो मौलवी साहब की तक़रीरों में होती थी। इस तरह हज़ारों लाखों आदमियों के दिल में मौलवी अहमद शाह ने देशभक्ती का सच्चा जज़्बा पैदा कर दिया।

उस ज़माने में अंग्रेज़ों के मुख़बिरों का जाल सिर्फ़ राजाओं नवाबों के राजदरबारों और महलों तक ही महदूद था, इसलिये मौलवी अहमद शाह का यह खुला प्रचार भी कुछ महीनों तक उनकी नज़र में न आ सका। लेकिन जब आग ज़्यादा बढ़ी और उसकी लपटें अंग्रेज़ों को भी लगने लगीं, तो उन्होंने मौलवी अहमद शाह को गिरफ़्तार करने का हुक्म दिया। अवध की पुलिस ने अंग्रेज़ों का यह हुक्म मानने से इन्कार कर दिया, इस पर फ़ौज भेजी गई और मौलवी साहब गिरफ़्तार कर लिये गये, इसके साथ ही तुरन्त मौलवी साहब का मुक़दमा भी कर लिया गया और उनको फाँसी की सजा सुना दी गई। फाँसी की तारीख़ तक के लिये मौलवी साहब को फ़ैज़ाबाद जेल में बन्द कर दिया गया।

मौलवी अहमद शाह की गिरफ़्तारी और उनकी फाँसी की सज़ा की ख़बर जनता को जैसे ही मिली, वैसे ही इलाक़े-भर में आग सी लग गई। फ़ैज़ाबाद शहर में उस वक़्त दो पैदल पलटन, कुछ सवार और कुछ तोपख़ाना था, जो इस वक़्त तक अंग्रेज़ों का पूरी तरह वफ़ादार था।

लेकिन मौलवी अहमद शाह की गिरफ़्तारी की खबर पाते ही वह देश के वफ़ादार हो गये और मौलवी अहमद शाह हिन्दुओं को भी कितने प्यारे थे, इसका सबसे बड़ा सबूत यह है कि मौलवी साहब की गिरफ़्तारी के विरोध में सबसे पहिले हथियार उठाने वाला एक हिन्दू सूबेदार दिलीप सिंह था, जिसने फ़ैज़ाबाद के तमाम अंग्रेज़ अफ़सरों को क़ैद कर लिया और फ़ैज़ाबाद की आज़ादी का एलान कर दिया।

इसके बाद हिन्दुस्तानी सिपाहियों और जनता की एक बड़ी भीड़ जेलख़ाने पर पहुँची और उसने दीवार तोड़कर मौलवी अहमदशाह को बाहर निकाल लिया। मौलवी साहब की बेड़ियाँ काट डाली गईं और जनता व सिपाहियों ने उनको अपना नेता चुन कर उनकी ही मातहती में काम करने का फ़ैसला किया। इस तरह फ़ैज़ाबाद के इलाक़े की बागडोर पूरी तरह मौलवी साहब के हाथ में आगई।

उस वक़्त मौलवी साहब ने जो पहिला काम किया, उससे न सिर्फ़ मौलवी साहब का बल्कि पूरे हिन्दुस्तान का सर ऊँचा होता है। यह काम था अंग्रेज अफ़सरों और उनके बालबच्चों को पूरी हिफ़ाज़त के साथ फ़ैज़ाबाद से रवाना करना। यह अंग्रेज किश्तियों के ज़रिये फ़ैज़ाबाद से रवाना किये गये और रास्ते के लिये उनको काफ़ी रसद भी देदी गई। जो लोग पच्छिमी पंजाब के हिन्दुओं पर होने वाले ज़ुल्मों का बदला पूरबी पंजाब के मुसलमानों से लेना जायज़ बताते हैं और पूरबी पंजाब के मुसलमानों पर होने वाले ज़ुल्मों का बदला पच्छिमी पंजाब के हिन्दुओं से लेना ठीक समझते हैं, उनको मौलवी अहमदशाह के इस कारनामे को आँख खोल कर पढना चाहिये, जिन्होंने उन अंग्रेज़ों की ही हिफ़ाज़त की, जो उनको फाँसी के तख़्ते पर भेज चुके थे। अंग्रेज़ों के साथ ठीक यही बर्ताव मौलाना अहमदशाह के दूसरे साथियों यानी शाह-गंज के ताल्लुक़ेदार राजा मानसिंह, सालोनी के ज़मींदार सरदार रुस्तम शाह और काला के राजा हनुमन्त सिंह ने भी किया। अंग्रेज़ों को फ़ैज़ाबाद

से निकाल देने के बाद ६ जून १८५७ को यह एलान कर दिया गया कि फ़ैज़ाबाद के इलाक़े से कम्पनी की हुकूमत ख़तम हो चुकी है और अब वह वाजिद अली शाह की हुकूमत में है। इसके साथ ही पूरे इलाक़े का ऐसा इन्तज़ाम भी कर दिया गया, जिससे गुन्डे और शरारती लोग जो ऐसे ही मौक़ों की तलाश में रहते हैं, सर न उठा सकें।

इसके बाद जब लखनऊ पर अंग्रेजों ने फिर घेरा डाला, तो मौलवी अहमद शाह अपने हज़ारों सिपाहियों के साथ लखनऊ में जा कर जम गये। लखनऊ शहर के भीतर नवम्बर सन् १८५७ से लेकर मार्च ५८ तक आज़ादी की लड़ाई बराबर चलती रही और मौलवी अहमद शाह बराबर उसमें हिस्सा लेते रहे। ११ मार्च सन् १८५८ को जब कैम्पबेल की फ़ौज, गोरखों की फ़ौज और पूरबी हिस्से से आने वाली अंग्रेज़ी फ़ौजों ने लखनऊ पर एक साथ चढाई की थी उस वक़्त भी मौलवी अहमद शाह लखनऊ के सेनापतियों में एक ख़ास हैसियत रखते थे। फ़ौज को कमान करने की उनकी क़ाबलियत कितनी बढी चढ़ी थी इसका ज़िक्र करते हुए अंग्रेज़ लेखक 'होम्स' ने लिखा है—

"फ़ैज़ाबाद का मौलवी अहमदुल्लाह एक ऐसा आदमी था, जो जज़्बात और क़ाबलियत दोनों के लिहाज़ से एक बड़ी तहरीक को चलाने और एक बड़ी फ़ौज की कमान संभालने के लिये सब तरह से योग्य था।"

लेकिन इन दिनों ही दिल्ली की तरह लखनऊ में भी हिन्दुस्तानी नेताओं में आपसी फूट और जलन फैलने लगी थी। बजाय क़ाबलियत के ऊँचे ख़ानदान और ऊँची हैसियत को तरजीह दी जाती थी और ऐसे ही लोगों के हाथों में फ़ौज की कमान रहती थी।

यह आपसी फूट और जलन इतनी बढ़ गई थी, कि एक बार लखनऊ की बेगम ने मौलवी अहमदशाह को गिरफ़्तार तक कर लिया, लेकिन जब फ़ौज और जनता की तरफ़ से इसका विरोध हुआ तो मौलवी

साहब छोड़ दिये गये। इससे मौलवी साहब के दिल के धक्का तो लगा परन्तु वह देश की ज़रूरत के समझते हुए अलग न हुए और बराबर लड़ाइयों में हिस्सा लेते रहे। जितनी बार हिन्दुस्तानी सेना ने आलम बाग़ पर हमला किया, मौलवी अहमदशाह घोड़े या हाथी के ऊपर हमेशा सबसे आगे लड़ते हुए देखे जाते थे।

१५ जनवरी १८५८ के मौलवी अहमद शाह के एक हाथ में गोली लगी। क़रीब एक महीने तक वह इसी वजह से चारपाई पर पड़े रहे। लेकिन १५ फ़रवरी के वह फिर मैदान में आकर जम गये। लेकिन अब अपने लोगों में ही सैकड़ों ग़द्दर पैदा हो चुके थे। नतीजा यह हुआ कि १४ मार्च के लखनऊ पूरी तरह अंग्रेज़ों के हाथों में आगया और मौलवी अहमद शाह नवाब बिरजीस क़दर और बेगम हज़रत महल के साथ शहर से निकल गये।

मौलवी अहमदशाह के दिल में लखनऊ छोड़ने का बड़ा रंज था, इसलिये थोड़े से साथियो के लेकर एक बार फिर मौलवी साहब लखनऊ पहुँचे और सआदतगंज मुहल्ले में अपना मोर्चा जमा दिया। उस वक़्त मौलवी साहब के पास सिर्फ़ दो तोपें थीं; फिर भी वह देर तक अंग्रेज़ों की बहुत बड़ी फ़ौज का जम कर मुक़ाबला करते रहे। लेकिन आख़िर में उनके हटना पड़ा। अंग्रेज़ी फ़ौज ने छै मील तक मौलवी साहब का पीछा किया, लेकिन वह उनके नहीं पासकी। मौलवी साहब फिर साफ़ निकल गये।

इसके बाद मौलवी साहब लखनऊ के पचास मील के अन्दर अन्दर अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ बराबर लड़ाई चलाते रहे। कुछ दिन बाद वह नाना साहब के साथ बरेली जा पहुँचे। कुछ ही दिनों में दिल्ली और अवध के कुछ और नेता और अवध की बेगम हज़रत महल भी बरेली जा पहुँचीं। यह ख़बर मिलते ही सर कालिन कैम्पबेल अपनी फ़ौज के साथ बरेली जा पहुँचा। नेताओं ने फ़ैसला किया कि बरेली से निकल कर और

रुहेलखण्ड में चारों ओर फैल कर अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ लड़ाई जारी रक्खी जाय। इसी फ़ैसले के मुताबिक़ मौलवी साहब ने बरेली से निकल कर शाहजहाँपूर पर मोर्चा जमाया और कुछ ही देर में उस पर क़ब्ज़ा कर लिया। कैम्पबेल फिर अपनी फ़ौज के साथ शाहजहाँपूर पहुँचा और एक बार तो ऐसा मालूम होने लगा कि इस बार मौलवी साहब अंग्रेज़ों के फन्दे से नहीं बच सकेंगे। लेकिन मौलवी साहब को घिरा हुआ देख कर रुहेलखड के सभी क्रान्तिकारी नेता, नाना साहब, बेगम हज़रत महल, शाहज़ादा फ़ीरोज़ शाह और राजा तेजसिंह वग़ैरा अपनी अपनी फ़ौजें लेकर शाहजहाँपूर पहुँच गये और मौलवी साहब को निकाल लाये। यह घटना साबित करती है कि मौलवी साहब उन नेताओं की नज़र में क्या हैसियत रखते थे।

लेकिन घर के ग़द्दारों से कौन बच सकता है। मौलवी साहब जब दोबारा अवध पहुँचे और अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ अपना संगठन करने लगे, तो पवन नाम की एक छोटी सी रियासत के राजा जगन्नाथ सिंह ने मौलवी साहब को अपने यहाँ बुलाया और जब मौलवी साहब वहाँ गये तो राजा के एक भाई ने धोका देकर उनको गोली मार दी। राजा जगन्नाथ सिंह ने फ़ौरन मौलवी साहब का सिर काट कर पास के अंग्रेज़ कैम्प में पहुँचा दिया, जिसके बदले में उसको पचास हज़ार रुपये अंग्रेज़ों से इनाम में मिले। इस तरह ५ जून सन् १८५८ को आज़ादी की लड़ाई का एक सच्चा देशभक्त नेता हमारे ही विश्वासघात के कारन मारा गया और उसकी मौत ने दूसरे नेताओं को भी बिल्कुल पस्त हिम्मत कर दिया।

मौलवी अहमद शाह के बारे में मशहूर इतिहास लेखक मालेसन ने अपनी किताब "इंडियन म्यूटिनी" (हिन्दुस्तान का ग़दर) की पहिली जिल्द, भाग चार, सफ़ा ३८१ में लिखा है—

"मौलवी बड़ा अजीब आदमी था + + + सेनापति की हैसियत से उसकी काबलियत के बारे में बहुत से सुबूत मिले + + कोई भी दूसरा आदमी घमंड के साथ यह नहीं कह सकता था कि मैंने दो मर्तबा सर कालिन कैम्पबेल को मैदान में हराया है! + + + अगर एक ऐसे इन्सान को, जिसके देश की आज़ादी बेइन्साफ़ी के साथ छीन ली गई हो और जो दिल से उसको आजाद करने की कोशिश करे और इसके लिये जंग करे, देशभक्त कहा जा सकता है, तो इसमें जरा भर भी शक नहीं है कि मौलवी अहमद शाह सच्चा देशभक्त था। उसने किसी की चुपचाप हत्या करके अपनी तलवार पर कलंक नहीं लगाया, निहत्थे और बेकसूर लोगों की हत्या को उसने कभी गवारा नहीं किया। उसने मरदाना वार, आन के साथ और डट कर खुले मैदान में उन विदेशियों के साथ जंग की जिन्होंने उसका देश छीन लिया था। हर देश के वीर और सच्चे लोगों को मौलवी अहमद शाह का नाम इज़्ज़त के साथ लेना चाहिये।"

यह शब्द एक अंग्रेज़ के हैं, जिनके ख़िलाफ़ मौलवी साहब लड़े थे। इससे साबित होता है कि वह कितने ऊँचे दर्जे के बहादुर और शानदार चाल चलन के इन्सान थे। सन् १८५७ की तवारीख़ में लाखों शहीदों के बीच उनका नाम हमेशा सूरज की तरह चमकता रहेगा।

# मौ० मुहम्मद बरकतुल्ला साहब भूपाली

हिन्दुस्तान के उन सैकड़ों हज़ारों देश भक्तों में, जो देश की आज़ादी के लिये अपना घरबार छोड़ कर विदेश गये और फिर जीतेजी अपने वतन को न लौट सके, मौलाना मुहम्मद बरकतुल्ला साहब भूपाली के नाम और काम की चरचा हमेशा की जाती रहेगी और वतन की भलाई के लिये काम करने वाले लोग हमेशा उनकी ज़िन्दगी के हालात से रोशनी और हिम्मत पाते रहेंगे।

इसकी वजह यह है कि मौलाना बरकतुल्ला साहब ने जिस ज़माने में देशभक्ति की राह में क़दम रक्खा, उस ज़माने में हालांकि बहुत से लोग मुल्क की आज़ादी के लिये कोशिश कर रहे थे और इसके लिये निहायत दिलेरी के साथ तरह तरह की तकलीफ़ें सह रहे थे, लेकिन उनमें से ज़्यादातर लोगों की सियासत महज़ जज़्बाती थी। "हिन्दुस्तान हमारा, हमारे पुरखों का देश है, इसकी तहज़ीब और इसका पुराना इतिहास बहुत शानदार है लेकिन ग़ुलाम होने की वजह से इसकी पुरानी इज़्ज़त धूल में मिल गई है, इस लिये हमको अपने देश को आज़ाद करने की कोशिश करनी चाहिए।" उस वक़्त अक्सर देश-भक्तों के ख़यालात ऐसे ही होते थे। इसके अलावा एक बात यह भी उनमें थी कि चूंकि उनकी देशभक्ति अपने पिछले शानदार ज़माने की याद और उसे फिर से हासिल करने की ख़्वाहिश पर क़ायम थी, इसलिये अगर मुसलमान देशभक्त मुग़लों जैसा राज चाहते थे, तो हिन्दू देशभक्त राजपूतों जैसा या मरहटों जैसा। इन दोनों में हालांकि कोई आपसी मन मुटाव नहीं था और न इन दोनों में फ़िरक़ापरस्ती ही थी, फिर भी अपने इन ख़यालात की वजह से दोनों एक दूसरे के नज़दीक न

आ सके। यही वजह है कि सन् १८६८ से सन् १६१५ तक हम हिन्दु-स्तान के हिन्दू और मुसलमान इनक़लाबियों को साफ़-साफ़ अलग-अलग सफ़ों में पाते हैं। उस वक़्त देवबन्द का मदरसा अगर मुसलमान इनक़लाबियों का गढ़ था, तो महाराष्ट्र और बंगाल हिन्दू इनक़लाबियों के गढ़ थे। लेकिन न तो महाराष्ट्र और बंगाल के हिन्दू इनक़लाबियों में किसी मुसलमान का नाम पाया जाता है और न मदरसा देवबन्द के क्रान्तिकारियों में किसी हिन्दू का ज़िक्र मिलता है। इसकी वजह सिर्फ़ यह थी कि उस वक़्त जमहूरियत यानी पंचायती राज की बात इन लोगों के दिमाग़ में नहीं थी। लिहाज़ा दोनों ने कभी एक साथ मिलकर काम करने की ज़रूरत ही महसूस नहीं की। हालांकि जब कभी मौक़ा आया, तब इन देशभक्तों ने हिन्दू मुस्लिम एकता की पूरी कोशिश की। मिसाल के लिये हाजी रशीद अहमद साहब गंगोही का वह फ़तवा इस सिलसिले में पेश किया जा सकता है, जो उन्होंने सन् १६०५ में दिया था और जिसमें मुसलमानों से कहा गया था कि वह कांग्रेस में शामिल हों, जो हिन्दू मुसलमानों की मिली जुली जमात हैं, लेकिन सर सय्यद की 'मुस्लिम अंजुमन' में, जो सिर्फ़ मुसलमानों की जमात है, शरीक न हों।

लेकिन इसी ज़माने में मौलाना बरकतुल्ला साहब भूपाली ने इस मैदान में आकर इस बड़ी कमी को पूरा कर दिया। मौलाना भूपाल के रहने वाले थे और आपके पिता रियासत के एक बड़े सरकारी अफ़सर थे। उन्होंने अपने लड़के को ऊँची से ऊँची तालीम पाने के लिये विलायत भेजा। इस तरह मौलवी बरकतुल्ला साहब भरी जवानी में विलायत पहुँचे। लेकिन वह विलायत पहुँचकर दूसरे हिन्दुस्तानी विद्यार्थियों की तरह रास रंग में नहीं डूब गये, बल्कि इंगलैंड पहुँचते ही उनके दिल में यह सवाल उठा कि इंगलैंड जैसा छोटा मुल्क इतना खुशहाल क्यों है और मेरा देश हिन्दुस्तान इतना विशाल होता हुआ इतना ग़रीब क्यों है। उन्होंने इस पर ग़ौर करना शुरू किया और फिर

इस नतीजे पर पहुँचे कि हिन्दुस्तान की दिल को कँपा देने वाली यह ग़रीबी सिर्फ़ इसलिये है कि 'हिन्दुस्तान पर अंग्रेज़ों' का क़ब्ज़ा है। अंग्रेज़ी हकूमत जोंक की तरह हिन्दुस्तान का ख़ून पी रही है, जिसका नतीजा यह है कि अंग्रेज़ क़ौम और उनका मुल्क मोटा और मज़बूत होता जा रहा है जबकि हमारा देश दिनों दिन कमज़ोर और बीमार पड़ता जा रहा है।

उस ज़माने में महाराष्ट्र के मशहूर नेता श्री गोपाल कृष्ण गोखले का बड़ा ज़ोर था। "हिन्दुस्तान की माली हालत कैसे बिगड़ी ?" इस मज़मून पर उनके बड़े ज़ोरदार जानकारी से भरे हुए लेक्चर होते थे, इसलिये शुरू शुरू में मौलाना बरकतुल्ला साहब पर उनका बहुत असर पड़ा। लेकिन कुछ ही दिनों बाद वह उनकी नरम नीति से ऊब गये और उनका झुकाव तिलक की पार्टी की तरफ़ हो गया। इसके बाद मौलाना हिन्दुस्तान आगये और उन्होंने भूपाल से एक अख़बार निकालना शुरू कर दिया। उस ज़माने में, जब कि विलायत हो आना बहुत बड़ी बात समझी जाती थी और विलायत के पास लोगों को बड़ी से बड़ी नौकरियां मिलना बेहद आसान था, मौलाना ने उस तरफ़ न जाकर अपने मुल्क की ख़िदमत करने का फ़ैसला किया। इससे ज़ाहिर होता है कि मौलाना की देशभक्ति महज़ दिखावटी नहीं थी। उनके दिल में सचमुच अपने मुल्क के लिये भारी दर्द था और वह उसके लिये भारी से भारी क़ुर्बानी करने में भी आगा पीछा नहीं सोचते थे।

मौलाना का यह अख़बार कुछ दिनों तक चला, लेकिन उसके गरम विचारों को ज़्यादा दिन तक सरकार बर्दाश्त नहीं कर सकी। अख़बार बन्द कर दिया गया और मौलाना पर कड़ी नज़र रक्खी जाने लगी। मौलाना समझ गये कि अब वह देश में रह कर अपने ख़यालात का प्रचार नहीं कर सकेंगे। इस लिये वह जापान पहुँचे और वहां की एक

यूनिवर्सिटी में प्रोफ़ेसर हो गये। यहीं से उन्होंने 'इस्लामिक फ़्रेटरनिटी' के नाम से एक अख़बार निकालना शुरू किया।

यह अख़बार सर सय्यद की उन हलचलों की मुख़ालफ़त करता था, जिनसे हिन्दू मुसलमानों में फूट पड़ जाने का अन्देशा था। मौलाना बरकतुल्ला साहब का कहना था कि मुसलमानों की भलाई सिर्फ़ इसी में है कि वह हिन्दुओं के साथ मिल कर अंग्रेज़ हुकूमत से मोरचा लें।

इस अख़बार की वजह से जब अंग्रेज़ हुकूमत ने अपने काम में बाधा पड़ते देखी, तो उसने जापान सरकार पर इसके ख़िलाफ़ कारवाई करने के लिये ज़ोर डाला। इसका नतीजा यह हुआ कि जापान की हुकूमत ने उस अख़बार को बन्द कर दिया। अख़बार के बन्द होते ही मौलाना ने भी अपना बोरिया बिस्तर संभाला और जापान से चल दिये। जिस यूनिवर्सिटी में मौलाना प्रोफ़ेसर थे, उसके मुन्तज़िम नहीं चाहते थे कि मौलाना यूनिवर्सिटी को छोड़ जायँ, लेकिन मौलाना ने लड़के पढ़ाने और पेट पालने के लिये अपना वतन नहीं छोड़ा था। वह जापान से सीधे अमरीका पहुँचे और वहीं अपना पुराना काम शुरू कर दिया। लेकिन उनको यह देख कर बड़ी तकलीफ़ होती थी कि उनके मुल्क के मुसलमान कुछ स्वार्थी नेताओं के बहकावे में आकर आज इस बात पर बहस करने में लगे हुए हैं कि कांग्रेस में मिलना चाहिये या नहीं। हालाँ कि उस वक़्त कॉंग्रेस की जो नरम पालिसी थी, उसकी वजह से मौलाना काँग्रेस को भी कुछ ज़्यादा काम की चीज़ नहीं समझते थे। लेकिन उनका खयाल था कि यह देश का एक मिला जुला प्लेटफार्म है, जिसका असर हकूमत पर भी कुछ न कुछ पड़ता ही है। इस सिलसिले में मौलाना ने २१ फ़रवरी सन् १९०५ को एक ख़त मौलाना हसरत मूहानी साहब को लिखा था। यह ख़त मौलाना की उस वक़्त की विचार-धारा को पूरी तरह जाहिर करता है

इसलिये उसका कुछ हिस्सा यहाँ दि . ना है। ख़त फ़ारसी में था, जिस मे मौलाना ने लिखा था:—

"हाल ही में आपने हिन्दू-मु एकता पर जो एडीटोरियल लिखा है और इण्डियन-नेशनल के सालाना जलसे में मुसलमानों के शामिल होने के बारे में लि जो मेहरबानी की है, उसका अंग्रेज़ी तर्जुमा मैंने देखा। बेहद ई।

सबसे पहिली बात, जो हिन्दू म एकता के लिये दलील बन सकती है, देश-प्रेम और हमजिन्स का हिन्दुस्तानी) होना है। असलियत तो यह है कि ज़्यादात मुसलमानो के पुरखे हिन्दू थे और हिन्दुस्तानी थे। इसलिये कुछ मज़ भेद उनकी असली एकता को ख़त्म नहीं कर सकते। इसके अला हिन्दू मुस्लिम एकता की सबसे बड़ी जरूरत इसलिये भी है कि इस वक़्त आम तबाही फैली हुई है।

पिछले दस बरसों में क़रीब दो इन्सान भूक से मर चुके हैं, और इन ग़रीबी के मारे हुए लोगों हिन्दू भी थे और मुसलमान भी। इस हादसे ( दुर्घटना ) की भयं समझ में आती है जब हम इस तादाद का मुक़ाबला ईरान की आबादी से करें, जो सिर्फ़ डेढ करोड़ है।

आख़िर यह ग़रीबी कहाँ से आई ?

(१) जिस वक़्त से ब्रिटिश हुकूमत क़ायम हुई, अंग्रेज़ी कारख़ानो के मालिकों ने मशीनों के ज़रिये , हथियार, बरतन वग़ैरा बनाकर हिन्दुस्तान की तमाम कारीगरी को धूल में मिला दिया। १८वीं सदी के आख़िर और १९वीं सदी के शुरू में ड की पार्लियामेंट ने यह क़ानून बनाया कि हिस्दुतान की बनी हुई जब इंगलैंड आवेंगी, तो उन पर कस्टम-ड्यूटी क़रीब सत्तर या अस्सी फ़ीसदी लगेगी और इंगलैंड की बनी हुई चीजों पर जो हिन्दुस्तान पहुँचेंगी, या तो कस्टम-ड्यूटी लगाई ही न जाय और अगर लगाई भी जाय, तो बहुत कम और

हिन्दुस्तान की हुकूमत का ख़र्च चलाने के ख़याल से लगाई जाय। यही वजह है कि हिन्दुस्तान की कारीगरी दूसरे मुल्कों में गाहक नहीं पा सकी और अपने हिन्दुस्तान में इंगलैंड की चीज़ें सस्ती होने को वजह से ख़ूब बिकने लगीं। इसलिये धीरे-धीरे हिन्दुस्तान की तमाम कारीगरी जड़ से ख़तम हो गई और हिन्दुस्तान, जो अपने पुराने ज़माने से कला कौशल का घर समझा जाता था, सिर्फ़ एक खेती बाड़ी का मुल्क बन कर रह गया।

दूसरी वजह यह है कि हिन्दुस्तान की तमाम उपज और यहाँ तैयार होने वाली चीज़ों को अँगरेज़ी पूंजीपति बहुत सस्ता ख़रीद कर दूसरे मुल्कों में मँहगा बेचते हैं।

तीसरी वजह यह है कि हिन्दुस्तान में खेती नए तरीक़ों से नहीं होती।

चौथी वजह यह है कि हिन्दुस्तान की हुकूमत करीब तीस करोड़ रुपया हिन्दुस्तान की वज़ारत पर ख़र्च करने के लिये, इंगलैंड के पूँजीपतियो से लिये हुए क़र्ज़ का सूद चुकाने के लिये और पुराने अंग्रेज़ नौकरों की पेन्शन देने के लिये हर साल विलायत भेज देती है।

पाँचवीं वजह यह है कि सब बड़े बड़े ओहदे सिर्फ़ अंग्रेज़ों को दिये जाते हैं और छोटी छोटी नौकरियाँ ही हिन्दुस्तानियों को मिलती हैं।

छटी वजह यह है कि क़ानून और इंडियन सिविल सर्विस के इम्त-हान देने के लिये हिंन्दुस्तानियों को इंगलैंड जाने के लिये मजबूर कर दिया गया है।

यह थोड़े से नुक़सान हैं, जो हमारी बरबादी के असली कारन हैं और जिनसे पूरे हिन्दुस्तान की बरबादी हो रही है। यह नुक़सान मैंने बहुत मुख़्तसर, यानी किसी बड़े ढेर में एक मुठ्ठी की तरह, इसलिये बयान किये हैं, जिससे उन लोगों को, जो काँग्रेस से दूर रहना चाहते हैं, नसी-हत हासिल हो।

अगर मुसलमान काँग्रेस में शामिल होकर इस कशमकश के मैदान में नामवरी की गेंद अपने हिन्दू भाइयों से आगे निकाल ले जायँ, तो वह इसलाम की बहुत बड़ी खिदमत करेंगे।"

यह ख़त बताता है कि मौलाना बरकतुल्ला साहब की सियासत सिर्फ़ जज़्बाती नहीं थी, बल्कि अपने लाखों करोड़ों देश भाइयों की तकलीफ़ें और ग़रीबी ही उनको इस मैदान में खींच लाई थी।

इसके बाद सन् १६१०-११ में जब अमरीका में ग़दर पार्टी का संगठन हुआ, तो मौलाना उसमें शामिल हो गये। यहाँ पर यह बता देना ज़रूरी है कि ग़दर पार्टी के तमाम नेता सिक्ख थे, लेकिन मौलाना को उसमें शामिल होना ज़रूरी मालूम हुआ क्योंकि उनके नज़दीक देशभक्तों की एक अलग क़ौम थी, जिनमें हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख वग़ैरा का कोई भेद ही नहीं था। ग़दर पार्टी के सिक्ख भाइयों ने भी उनको सर आँखों पर बैठाया और आगे चलकर जब जब ग़दर पार्टी के नेताओं में फूट पड़ी, तब तब मौलाना ही एक अकेले ऐसे आदमी रहे, जिन पर ग़दर पार्टी का हर एक मेम्बर पूरी तरह यक़ीन रखता था और उनकी बात मान लेता था।

सन् १६१४ में जब यूरोप में बड़ी लड़ाई शुरु हुई तो मौलाना फ़ौरन जर्मनी पहुँचे और वहाँ से जो 'इन्डो-जर्मन-टर्किश' मिशन अफ़ग़ानिस्तान के लिये चला, उसके एक मेम्बर बनकर टर्की होते हुए अफ़ग़ानिस्तान आ गये। यह मिशन इसलिये आया था, जिससे कि अफ़ग़ानिस्तान की सरकार को अपनी तरफ़ मिलाकर हिन्दुस्तान पर हमला करा दिया जाय। यहीं पर मौलाना बरकतुल्ला साहब की जान-पहिचान मौलाना उबैदुल्ला साहब सिन्धी और मौलाना मुहम्मद मियाँ साहब के साथ हुई और वह हिन्दुस्तान की उस आरज़ी आज़ाद हुकूमत में शामिल हो गये, जो इन लोगों ने बनाई थी। इस सरकार में मौलाना बरकतुल्ला साहब की हैसियत सब से बड़े वज़ीर की थी।

जैसा कि सभी जानते हैं कि यह हुकूमत अफ़ग़ानिस्तान की अंग्रेज परस्त पालिसी की वजह से कुछ ज्यादा काम न कर सकी, इसलिये लड़ाई ख़तम होने पर मौलाना रूस चले गये। वहाँ आपने रूस की हुकूमत और कम्यूनिज़्म की बाबत पूरे हालात समझे और पढ़े, जिससे आपको एक नई रोशनी मिली। लेकिन बहुत सी बातें ऐसी भी थीं, जिनसे आप रूस के नज़रिये से इत्तिफ़ाक़ नहीं करते थे। इसलिये आप रूस से लौटकर जर्मनी आ गये और वहाँ से 'अल इस्लाह' नाम का एक अख़बार निकालने लगे। इस अख़बार का मंशा भी हिन्दुस्तान के मुसलमानों को अंग्रेजों के मुक़ाबले में खड़ा कर देना था। यह अख़बार कुछ दिनों तक चला, लेकिन रुपये-पैसे की तंगी की वजह से आख़िर मौलाना को इसे बन्द कर देना पड़ा।

फ़रवरी सन् १९२७ में जब ब्रूसेल्स में 'ऐन्टी इम्पीरियलिज़्म कान-फ्रेंस' हुई तो आपने उसमें ग़दर पार्टी के सरकारी नुमाइन्दे की हैसियत से हिस्सा लिया। इस कानफ्रेन्स में तमाम दुनिया के नुमाइन्दे आये थे और हिन्दुस्तान की कांग्रेस की तरफ़ से इसमें पं० जवाहर लाल नेहरू ने हिस्सा लिया था। उसी वक़्त आपकी मुलाक़ात नेहरू जी से भी हुई थी जिसका ज़िक्र नेहरू जी ने अपनी मशहूर किताब 'मेरी कहानी' में बहुत अच्छे लफ़्ज़ों में किया है।

इस कानफ्रेन्स के बाद ही सान फ्रान्सिस्को में ग़दर पार्टी का सालाना इजलास हुआ, जिसमें आपको बहुत इसरार के साथ बुलाया गया। उस वक़्त आपकी सेहत ऐसी नहीं थी कि आप इतनी दूर की यात्रा कर सकें। फिर भी आप इनकार न कर सके और वहाँ पहुँचे। इस इजलास में होने वाली तक़रीर ही आपकी सबसे आख़िरी तक़रीर थी, जिसमें आपने अपने साथियों से ब्रिटिश हुकूमत के ख़िलाफ़ बराबर लोहा लेते रहने की अपील की थी। कहा जाता है कि यह तक़रीर मौलाना की सबसे अच्छी और सबसे ज्यादा कामयाब तक़रीर थी, जिसके एक एक

लफ़्ज़ में ग़जब का जोश और दर्द था। बहुत से लोग तो इस तक़रीर को सुन कर रोने लगे थे।

ग़दर पार्टी के इजलास के बाद ही आप बीमार पड़ गये। उस वक़्त आपकी उमर पैंसठ बरस की थी, जिसके क़रीब २२ बरस आपने जिलावतनी की हालत में एक मुल्क से दूसरे मुल्क में भागते दौड़ते बिताये थे। उस ज़माने में उनको जिस हालत में रहना पड़ा, उसकी कहानी आज भी पत्थर से पत्थर दिल को पिघला सकती है। पास में पैसा नहीं, रहने को ठिकाना नहीं, बिल्कुल बेगाना मुल्क, अंग्रेज़ी हुकूमत के जासूसों का घेरा और साथियों में भी आपसी फूट। भला इस हालत में किसकी हिम्मत क़ायम रह सकती है। लेकिन मौलाना जिसे भी मिले और जब भी मिले, हँसते हुए ही मिले। जब उनके और साथी इन मुसीबतों और परेशानियों की घबराहट की वजह से आपस में लड़ते थे, और एक दूसरे पर बुरे से बुरे इलज़ाम लगाने लगते थे, तब उनको समझाना और धीरज बँधाना मौलाना का ही काम था। वह कभी अपनी मुसीबतों की बात ज़बान पर भी नहीं लाते थे और अपने हर एक साथी की मुसीबत सुनने के लिये हमेशा तैयार रहते थे। यही वजह थी कि हर एक हल्क़े में वह बड़ी इ.ज़्ज़त की निगाह से देखे जाते थे।

कुछ लोग उनको पिछड़े हुए ख़यालों का समझते थे, क्योंकि उनकी हर बात कुछ रूहानियत का रंग लिये हुए होती थी। बावजूद इसके कि वह तमाम यूरोप घूम आये थे और रूस में भी काफ़ी दिनों तक रहे थे, .खुदा और मज़हब पर उनका विश्वास दिनोंदिन पक्का होता गया। शायद ही कभी उन्होंने एक वक़्त भी नमाज़ छोड़ी हो और शायद ही किसी रमज़ान में एक दिन भी बिना रोज़ा रक्खे रहे हों। फिर भी और शायद इसीलिये वह हिन्दू-मुसलमानों की एकता पर दिल से यक़ीन रखते थे और उनको आपसी फूट से इतनी नफ़रत और

चिढ़ थी कि सिर्फ़ इस बारे में वह किसी को भी कभी माफ़ नहीं कर सकते थे।

अपनी उस आख़िरी बीमारी के वक़्त भी उनकी ग़रीबी की हालत यह थी कि उनका बिस्तर एक छोटी सी कोठरी में था, जिसमें फ़र्नीचर के नाम पर एक मेज़ तक नहीं थी और दवा या डाक्टर का तो ज़िक्र करना ही फ़ज़ूल है। इस हालत में हमारे देश की आजादी की लड़ाई का यह सूरमा अपनी आख़िरी रातें बिता रहा था। लेकिन फिर भी उनके चेहरे की मुस्कराहट छीनी नहीं जा सकी और ५ जनवरी १६२८ को जब उन्होंने हमेशा के लिये अपनी आँखें बन्द कर लीं, तब भी उनके चेहरे पर वही मुस्कराहट बनी रही।

मरते वक़्त उन्होंने अपने साथियों से कहा था :—"तमाम ज़िन्दगी मैं ईमानदारी के साथ अपने वतन की आज़ादी के लिये कोशिश करता रहा। मेरी यह जबरदस्त ख़ुशक़िस्मती थी कि मेरी यह नाचीज़ ज़िन्दगी मेरे वतन के काम आई। आज इस ज़िन्दगी से विदा लेते समय जहाँ मुझे यह अफ़सोस है कि मैं अपनी कोशिशों में नाकामयाब रहा, वहाँ मुझे इस बात की भी तसल्ली है कि मेरे बाद मेरे मुल्क की मदद करने के लिये आज लाखों आदमी आगे बढ़ रहे हैं, जो सच्चे हैं, बहादुर हैं, जाँ बाज़ हैं। मैं इत्मीनान के साथ अपने मुल्क की क़िस्मत उनके हाथों में सौंप कर जा रहा हूँ।"

यह उस शहीद के आख़िरी लफ़्ज़ थे जो इस दुनिया ने सुने। इसके बाद तो सिर्फ़ उनकी याद ही बाक़ी रह गई।

मौलाना मुहम्मद बरकतुल्ला की ज़िन्दगी के यह तमाम हालात मालूम होने पर कभी कभी दिल में ख़याल होता है कि काश वह आज भी होते और आज़ाद हिन्दुस्तान में कुछ दिन ही बिता लेते। लेकिन फिर ख़याल आता है कि उनका आज न होना भी अच्छा ही है, क्योंकि

अगर वह आज होते, तो या तो पाकिस्तान के किसी जेल में होते; क्योंकि वह हिन्दू मुस्लिम एकता के हामी थे और यह बरबादी व आपसी नफ़रत बर्दाश्त नहीं कर सकते थे। और अगर वह हिन्दुस्तान में रहते तो उनके इसी मुल्क के बच्चे उनके हिन्दुस्तान में रहने पर एतराज़ करते और उनकी वफ़ादारी पर कोई ऐसे साहब शक ज़ाहिर करते नज़र आते, जिनकी पूरी उमर ब्रिटिश हुकूमत के तलवे सहलाने में बीती होती। इसलिये यह अच्छा ही है कि आज वह ऐसी जगह हैं, जहाँ उनसे वफ़ादारी का हलफ़ उठाने के लिये कह कर हम उनका अपमान नहीं कर सकते। हाय रे बदक़िस्मत हिन्दुस्तान !

—:०:—

# मौलाना मज़हरुलहक़

हमारे देश में आज फ़िरक़ापरस्ती का ज़हर इतनी बुरी तरह फैल गया है, कि आज ज़्यादातर हिन्दू हर एक मुसलमान को शक और नफ़रत की निगाह से देखते हैं और ज़्यादातर मुसलमान हर एक हिन्दू को इसी निगाह से देखते हैं। जिन लोगों की पूरी ज़िन्दगी हमारी जानकारी में ही देश सेवा में बीती है और जिनको हमने हमेशा फ़िरकापरस्ती के ख़िलाफ़ आवाज़ उठाते और उसके एवज़ में अपने ही जाति भाइयों के पत्थर खाते देखा है, हमारे दिल की शैतानियत आज हमें उनके ऊपर भी यक़ीन न करने और उनको अपना दुशमन मानने के लिये भड़काती है। यही कारन है कि आज भी न जाने कितने मुसलमान छिपे-छिपे और गुप-चुप पं० जवाहरलाल नेहरू पर भी शक करने से नहीं चूकते और हिन्दू तो खुल्लम खुल्ला मौ० आज़ाद, रफ़ी अहमद क़िदवई और शेख़ अब्दुल्ला तक के बारे में इसी तरह की ज़हरीली बातें कहते देखे जाते हैं। ऐसी हालत में यह ज़रूरी मालूम होता है कि हम अपने उन बुज़ुर्गों को याद करें, जिन्होंने अपनी पूरी ज़िन्दगी ही देश सेवा और आपसी मेल-मिलाप क़ायम करने में लगा दी।

ऐसे लोगों में एक ख़ास नाम मौलाना मज़हरुलहक़ साहब का है, जो बिहार के एक बहुत बड़े रईस घराने में पैदा होकर भी अपनी देशभक्ती के कारण सब कुछ त्याग कर फ़क़ीरों की तरह रहने लगे थे। जो फ़िरक़ापरस्त हिन्दू आज यह प्रचार करते फिरते हैं कि हिन्दुस्तान का कोई मुसलमान कभी सच्चा देशभक्त नहीं हो सकता और न वह अपने जाति भाइयों के बारे में अपना पक्षपात ही छोड़ सकता है, उनके लिये मौलाना मज़हरुलहक़ साहब की ज़िन्दगी एक ऐसा भरपूर

और सच्चा जवाब है, जिससे किसी तरह भी इन्कार नहीं किया जा सकता।

मौलाना मज़हरुलहक़ साहब लन्दन में गांधी जी के साथ पढ़े थे और वहीं से बैरिस्टरी पास करने के बाद वह जैसे ही देश लौटे, देश के काम में बढ़कर हिस्सा लेने लगे। यह वह ज़माना था जब कि कांग्रेस धीरे-धीरे ताक़तवर होती जा रही थी और उसने ब्रिटिश हुकूमत और उसके इन्साफ़ की सराहना करने के बजाय कुछ दबी दबी ज़बान से स्वराज और आज़ादी की बात करनी शुरू कर दी थी। हमारे देश के अंग्रेज़ अफ़सर कांग्रेस के इस बदलते हुए रवय्ये को देख कर बेहद डरने लगे थे और बहुत सोच-विचार करने के बाद उन्होंने कांग्रेस की ताक़त को कम करने के लिये हिन्दू मुसलमानों में फूट डालने का उपाय खोज निकाला था। इसके लिये ज़रूरी था कि मुसलमानों में पहिले तो यह ख़याल पैदा किया जाय कि वह हिन्दुस्तान में हिन्दुओं के मुक़ाबले में कम तादाद में हैं और इसलिये उनको हिन्दुओं के हमलों से बचने के लिये कुछ ख़ास रिआयतोंकी ज़रूरत है और उसके बाद उनको यह रिआयतें कुछ ऐसे ढंग से दी जायँ, जिससे हिन्दू उन रिआयतों का विरोध करें, और मुसलमानों का यह ख़याल यक़ीन में बदल जाय कि सचमुच हिन्दू हमारे दुश्मन हैं और वह हमारी बढ़ती को सहन नहीं कर सकते।

इसके लिये सन् १९०९ में मिन्टो मार्ले रिफ़ार्म के नाम से एक स्कीम हिन्दुस्तान पर लागू की गई, जो हिन्दुस्तान की माँगों का एक खिजलाहट भरा जवाब था। इस मिन्टो मार्ले रिफ़ार्म में मुसलमानों की बड़ी तरफ़दारी ज़ाहिर की गई थी, लेकिन वह तरफ़दारी इस शक्ल में नहीं थी कि ग़रीब मुसलमान बच्चों के लिये सस्ती तालीम का कोई इन्तज़ाम किया गया हो, या उनके लिये अस्पताल खोले गये हों, या सरहद पर, जहाँ कि सौ फ़ीसदी मुसलमान रहते थे, अंग्रेज़ी हुकूमत के

वहशियाना हमले बन्द हो गये हों, बल्कि वह तरफ़दारी इस शक्ल में थी कि ऐसेम्बली और कौंसिलों के चुनावों में वोट देने का हक़ पाने के लिये एक हिन्दू के लिये तो यह ज़रूरी था कि या तो उसकी आमदनी तीन लाख रुपया सालाना हो और या वह कम से कम तीस साल पुराना ग्रेजवेट हो। लेकिन मुसलमान के लिये सिर्फ़ तीस हज़ार की आमदनी और तीन साल पुराना ग्रेजवेट होना ही काफ़ी था। दुनिया भर में यह शायद पहला मौका था, जब कि वोट देने के हक़ के मामले में जाति या फ़िरक़े के नाम पर इस तरह फ़र्क़ किया गया था।

जैसे ही यह स्कीम शाया हुई, पूरे हिन्दुस्तान में इस मसले पर एक तूफ़ान सा उठ खड़ा हुआ। ख़ुश क़िस्मती से उस ज़माने की आम जनता न तो आज की तरह मुंहज़ब ही थी और न उसका सियासत से इतना सीधा ताल्लुक़ ही था इसलिये छुरेबाज़ी तो नहीं हुई, पर अख़बारों में कालम पर कालम रंगे गये। बड़ी बड़ी सभायें इसकी मुख़ालफ़त और मुआफ़कत में की गईं और इसने हिन्दू-मुसलमान के सवाल को काफ़ी उभार दिया। हिन्दू कहते थे कि वोट देने के हक़ के बारे में इस तरह भेदभाव करना हमारे साथ सरासर ज़ुल्म करना है और मुसलमान कहते थे कि जब अंग्रेज़ तक यह मानते हैं कि कम गिनती में होने की वजह से हमारे साथ यह रिआयत करना ज़रूरी है, तो इसका साफ़ मतलब यह है कि यह हमारा सच्चा हक़ है और कांग्रेस व दूसरे हिन्दू नेता अपनी फ़िरक़ा परस्ती की वजह से ही इस स्कीम का विरोध कर रहे हैं। ऐसी हालत में किसी मुसलमान नेता का इस स्कीम की मुख़ालफ़त में बोलना कितनी बड़ी हिम्मत की बात थी, यह बात आसानी से समझ में आ सकती है लेकिन मौलाना मज़हरुलहक़ साहब ने इस स्कीम का जम कर विरोध किया और उन्होंने उन मुसलिम फ़िरक़ापरस्त नेताओं को जो अंग्रेज़ों की इस भयानक चाल को अपनी

कामयाबी समझ कर .खुशी से बग़लें बजा रहे थे, बहुत साफ़ साफ़ लफ्ज़ों में यह चेतावनी दी कि इस स्कीम को मंज़ूर करके वह फूट का ऐसा बीज बोए दे रहे हैं, जिसका दरख़्त आगे चलकर बहुत कड़ुवे फल देगा। जैसा कि फ़िरक़ापरस्त गिरोहों का क़ायदा होता है, इस मौक़े पर मज़हरुलहक़ साहब को काफ़ी गालियाँ उनकी तरफ़ से सुनाई गईं, लेकिन वह इन बातों से डरने वाले नहीं थे। काश! उस वक़्त ही अपने इस दूरन्देश नेता की आवाज पर इस बदक़िस्मत मुल्क ने ध्यान दिया होता।

इसके बाद कांग्रेस की माँगों को इङ्गलैंड की जनता के सामने रखने के लिये सन् १९१४ में जब एक डेपुटेशन इंगलैंड भेजा गया, तो उसमें मौलाना मज़हरुलहक़ साहब भी थे। इस डेपुटेशन में श्री सच्चिदानन्द सिन्हा, भूपेन्द्रनाथ बसु, मि० जिन्ना, ला० लाजपत राय वग़ैरह उनके साथी थे और वहाँ पर उन्होंने जिस मेहनत के साथ अपने काम को निभाया, उसको सभी लोगों ने दाद दी। लेकिन वह जल्दी ही समझ गये कि इस तरह के डेपुटेशनों से कभी कोई अमली फ़ायदा नहीं हो सकता। इसके बाद उस ज़माने की लिबरल सियासत से उनकी तबियत ऊब सी गई और वह कुछ .ज्यादा कारगर प्रोग्राम पर ज़ोर देने लगे।

कुछ दिनों बाद सन् १९१६ में जब महात्मा गान्धी चम्पारन के निलहे गोरों के अत्याचारों की जाँच करने के लिये बिहार पहुँचे, तो मौलाना मजहरुलहक़ साहब से उनको काफी मदद मिली। उस ज़माने में गान्धी जी को मदद देना तो दूर उनको अपने घर में ठहराना भी बड़ी हिम्मत की बात समझी जाती थी, लेकिन मजहरुलहक़ साहब जिस काम को ठीक समझते थे उसको करने में फिर मुसीबतों और परेशानियों का सवाल उनको अपने रास्ते से कभी एक इंच भी नहीं डिगा सकता था। इसलिये जब चम्पारन में काम करते हुए एक बार गान्धी जी ने

अपने साथियों से यह पूछा कि अगर इस सिलसिले में जेल जाने की ज़रूरत हुई तो कौन कौन इसके लिये तय्यार है। तब मौलाना मज़हरुलहक़ पहले आदमी थे जिन्होंने जेल जाने वालों में अपना नाम दिया था। उस ज़माने में जेल जाना एक ऐसी ग़ैर मामूली बात समझी जाती थी कि जब गान्धी जी ने यह सवाल लोगों के सामने रक्खा, तो सभी उनके चेहरे की तरफ़ देखते रह गये थे। लेकिन मौलाना ने जब अपना नाम पेश किया, तो और भी बहुत से लोगों ने अपना नाम लिखा दिया। इसलिये गान्धी जी ने जेल जाने वालों की पहिली टोली का सदर मौलाना को ही चुना था।

इसके कुछ दिन बाद ही यानी सन् १९१७ में बिहार के शाहाबाद ज़िले में और उसके बाद गया और पलामू ज़िलों में भी गाय की क़ुरबानी के मसले पर बहुत बड़े-बड़े हिन्दू-मुस्लिम दंगे हुए। इन ज़िलों में हिन्दुओं की तादाद ज़्यादा थी, इसलिये, जैसा कि राजेन्द्र बाबू ने अपनी 'आत्मकथा' में लिखा है, मुसलमानों को हिन्दुओं के हाथों जान और माल का बहुत बड़ा नुक़सान उठाना पड़ा। उस वक़्त मौलाना मज़हरुलहक़ साहब की हैसियत का कोई दूसरा लीडर होता, तो यक़ीनन उसकी तबियत पर इन वाक़िआत का असर पड़ता और उसके दिल में हिन्दुओं की तरफ़ से कड़ुवाहट पैदा हो जाती, लेकिन मौलाना जानते थे कि इस बदक़िस्मत मुल्क में इस तरह के फ़िरक़ेवाराना झगड़ो की असली वजह दूसरी ही है, इस लिये उन्होंने अगर मुसीबतज़दा मुसलमानों की मदद की, तो जो हिन्दू बलवे के बाद पुलिस और फ़ौज की ज़्यादतियों के शिकार हुए, उनकी मदद के लिये भी मौलाना के दरवाज़े हमेशा खुले रहे। इन्सान इन्सान में भेद करना उनको कभी नहीं सुहाता था और इसे वह बड़ी ज़लील बात समझते थे।

इसके बाद असहयोग आन्दोलन शुरू हुआ। गान्धी जी ने वकीलों से, सरकारी नौकरों से और विद्यार्थियों से सब कुछ छोड़ छाड़ कर

आज़ादी की लड़ाई में हिस्सा लेने के लिये कहा और इस पुकार को सुनते ही मौलाना मज़हरुलहक़ साहब अपना सब कुछ त्याग कर आज़ादी की लड़ाई के मैदान में आ डटे। इस सिलसिले में उन्होंने जो त्याग किया, उसकी कहानी आज भी दिल में एक उमंग पैदा कर देती है।

राजेन्द्र बाबू ने अपनी 'आत्मकथा' में लिखा है कि जब एक दिन इंजीनियरिंग स्कूल के कुछ विद्यार्थी वहाँ के प्रिन्सिपल से झगड़ कर स्कूल से निकल आये, तो वह एक जुलूस की शक्ल में मौलाना के पास पहुँचे और उनसे कहा कि हम लोगों ने स्कूल तो छोड़ दिया है, इसलिये अब आप हमको कोई जगह दीजिये। उस वक़्त मौलाना बहुत ही ऐश-आराम के साथ एक बड़ी कोठी में रहा करते थे और अपने लिये एक दूसरी कोठी भी बनवा रहे थे। लेकिन जब इन फूल से नौजवानों को जगह की तलाश में इस तरह भटकते हुए देखा, तो उन सब लड़कों को लेकर अपनी जान पहिचान के एक साहब के छोटे से बंगले में आकर रहने लगे, जो गंगा के किनारे पर बना हुआ था। उन दिनों कड़ाके की सर्दी पड़ रही थी और गंगा के किनारे पर होने की वजह से वह जगह और भी ज़्यादा ठंडी थी। इसके अलावा घने बाग़ीचों से घिरे रहने के कारन-वहाँ सील भी थी। लेकिन मौलाना वहीं जमे रहे। कुछ दिनों बाद मौलाना ने अपने ही पैसे से वहीं कुछ मकान भी बनवा दिये और उस जगह का नाम 'सदाक़त आश्रम, रख दिया, जो तब से लेकर आज तक सूबा काँग्रेस कमेटी का सदर द़फ्तर बना हुआ है। इस आश्रम में मौलाना ने चर्ख़ा बनाने का एक कारख़ाना भी खोला और सभी लड़कों को इस काम में लगा दिया। वह ख़ुद लड़कों को पढ़ाते भी थे और वही सादा खाना खाते थे, जो लड़के खाते थे। लड़के ज़्यादातर हिन्दू थे लेकिन मौलाना को वह पिता की तरह पूज्य मानते थे और उन पर भरोसा करते थे। मौलाना साहब ने भी उनके इस भरोसे को किस तरह निभाया,

इसका पता नीचे की घटना से लगता है, जिसे राजेन्द्र बाबू ने अपनी 'आत्मकथा' में इस तरह लिखा है:—

'हक़ साहब के साथ एक बहुत ग़रीब घर का लड़का रहा करता था। उन्होंने देखा था कि लड़का पढ़ने में तेज है। उनके दिल पर इसका भी असर पड़ा था कि मुसलमान होकर भी उसने हिन्दी और संस्कृत पढी थी। वह कालेज के फ़र्स्ट इयर या सेकिण्ड इयर में पढ़ता था। नाम था उसका मुहम्मद ख़लील। हक साहब उसे मानते थे। असहयोग आरम्भ होने पर उसने भी कालेज छोड़ दिया और हक़ साहब के साथ ही उनकी कोठी छोड़कर सदाक़त आश्रम में जाकर रहने लगा। एक डेढ साल बाद मैंने सुना कि हक़ साहब ने उसको निकाल दिया। मुहम्मद ख़लील ने भी आकर मुझसे कहा कि वह रंज हो गये हैं, आप सिफ़ारिश करके उनको शान्त कर दीजिये। हक़ साहब की मेहरबानी मेरे ऊपर बराबर रहा करती थी। वह दिल से मुझे प्यार करते थे। इस लिये मैंने मुहम्मद ख़लील के बारे में उनसे कहा। उस समय तक मुहम्मद ख़लील सारे बिहार में विख्यात (मशहूर) हो गये थे। उन्होंने असहयोग आरम्भ होते ही एक राष्ट्रीय भजन बनाया था, जो उन दिनों बहुत चालू हो गया था...उन दिनों शायद ही कोई ऐसी सभा होती थी, जिसमें यह गीत उत्साह से न गाया जाता हो।

''जब मैंने हक़ साहब से कहा कि मुहम्मद ख़लील की कोई ग़लती हो तो माफ़ कीजिये।'' तो उन्होंने बहुत ही दुख के साथ मुझसे कहा, "मैं तुम्हारी बात कभी नहीं टालता, पर इस समय मजबूर हूँ। तुम नहीं जानते कि ख़लील ने कितना बुरा काम किया है। इसीलिये तुम सिफ़ारिश कर रहे हो। मैंने जिस चीज़ को अपने सारे जीवन का मुख्य उद्देश्य (ख़ास मकसद) बना लिया है, जिसके लिये सब कुछ करता आया हूँ और आज फ़क़ीर बन गया हूँ, उस पर इसने ठेस लगाई है।

मैंने अपनी सारी ज़िन्दगी में हिन्दू मुस्लिम एकता के लिये काम किया है। उसी में आज भी लगा हुआ हूँ। आश्रम में रहकर इसने हिन्दू लड़कों के साथ ऐसा बर्ताव किया है, जिससे वह लड़के, जो मुझ पर विश्वास करके प्रेम वश मेरे पास आ गये हैं, हिन्दू-मुस्लिम भेद भाव समझने लगे। इसने मेरे सारे जीवन के बने बनाये काम को बिगाड़ने का जतन किया है। इसने इस बात की कोशिश की है कि लड़कों को मुसलमान बनावे। मैं सब कुछ माफ़ कर सकता हूँ, पर इस तरह इस्लाम के नाम पर लड़कों के साथ विश्वासघात करना बरदाश्त नहीं कर सकता। अब मैं जान गया हूँ कि इसने हिन्दी और संस्कृत भी इसी ढोंग के लिये पढ़ी है। एक दिन यह हिन्दू मुस्लिम फ़साद भी करा देगा। मैं इसे आश्रम में हरगिज़ नहीं रहने दूँगा।"

इस तरह उन्होंने उस मुहम्मद ख़लील को, जिसे उन्होंने अपने बेटे की तरह पाला पोसा था और जिसकी पढ़ाई लिखाई में हज़ारों रुपया ख़र्च किया था, सिर्फ़ इस इलज़ाम पर कि उसने किसी हिन्दू लड़के को मुसलमान होने के लिये फुसलाया था, इस तरह घर से निकाल दिया कि फिर ज़िन्दगी भर उसका मुँह नहीं देखा। सिर्फ़ इसी एक घटना से यह मालूम होता है कि मौलाना हिन्दू-मुस्लिम एकता पर कितनी सच्चाई से यक़ीन करते थे और इसे कितनी अहमियत देते थे।

एक ख़ास बात यह थी कि गान्धीजी की ही तरह मौलाना भी कभी यह नहीं देखते थे कि उनकी इन भावनाओं का हिन्दुओं पर क्या असर पड़ता है। उनके नज़दीक हिन्दू मुस्लिम एकता का काम दूकानदारी नहीं थी, जिसका एवज़ कुछ न कुछ मिलना ही चाहिये। बल्कि यह तो उनका ईमान था। इसीलिये जब फ़िरक़ापरस्त हिन्दुओं ने मौलाना मज़हरुलहक़ साहब का भी, हिन्दू-मुस्लिम सवाल की आड़ लेकर, तरह-तरह से विरोध किया और उनका अपमान किया तब भी उनके दिल में कोई कड़वाहट

नहीं आई और न उनको कुछ और लीडरों की तरह अपने ख़यालात बदलने की ही ज़रूरत महसूस हुई। मौलाना जानते थे कि जिनकी दूकानदारी ही फ़िरक़ापरस्ती पर चलती है, उनसे इसके सिवा किसी दूसरे बरताव की उम्मीद की ही नहीं जा सकती।

असहयोग के दिनों में और उसके बाद मौलाना बहुत दिनों तक बिहार विद्यापीठ के चान्सलर रहे। इसी ज़माने में उन्होंने 'मदर-लैन्ड' नाम का एक हफ़्तेवार अख़बार भी निकाला, जिसमें एक लेख निकालने के जुर्म में उनको सज़ा भी भुगतनी पड़ी। कुछ दिनों बाद यह अख़बार बन्द हो गया। इसके बाद वह छपरा डिस्ट्रिक्टबोर्ड के चेयरमैन भी चुने गये। इन दिनों ही यानी सन् १९२६ में जब हिन्दुस्तान के दूसरे दूसरे सूबों की तरह बिहार के हिन्दू मुसलमानों के बीच फिर तनातनी शुरू हुई, तो मज़हरुलहक़ साहब ने छपरा में ही बिहार के सभी ख़ास ख़ास नेताओं को इकट्ठा किया और उनसे आपस में एकता बनाए रखने की अपील की। इसका नतीजा यह हुआ कि बिहार में उस गरमा गरमी और जोश ख़रोश के ज़माने में भी हिन्दू मुस्लिम एकता का ऐसा सुन्दर काम हुआ कि पूरे देश भर में उसकी चरचा रही।

इसी साल जब गोहाटी में आल इण्डिया कांग्रेस का इजलास हुआ, तो बहुत से सूबों ने उस इजलास की सदारत के लिये मौलाना मज़हरुलहक़ साहब का नाम पेश किया। लेकिन मौलाना ने इस ओहदे को, जो हिन्दुस्तान में सब से बड़ी इज़्ज़त की बात समझी जाती रही है, मंज़ूर करने से इनकार कर दिया। उनका कहना था कि अगर उन्होंने कांग्रेस की सदारत मंज़ूर कर ली, तो अपने सूबे में वह हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिये जो काम कर रहे हैं, वह नहीं कर सकेंगे। इस बात से भी साबित होता है कि मौलाना एकता के काम को कितनी तरजीह देते थे।

इस तरह से मौलाना मज़हरुलहक़ साहब एक ऐसी हस्ती थे, जो फ़िरक़ापरस्ती के बड़े-बड़े तूफ़ानों में भी शान्ति और प्रेम के गीत गाते रहे। मुसलमानों ने उनको काफ़िर कहा और हिन्दुओं ने भी उन पर तरह-तरह के इल्ज़ाम लगाये, लेकिन वह अपनी जगह पर हमेशा जमे रहे। सन् १६२६ में जब लाहौर में सालाना इजलास हो रहा था, मौलाना का अपने गाँव फ़रीदपुर ज़िला छपरा में इन्तक़ाल हो गया। वह बहुत दिन से अपने इस गाँव में आकर रहने लगे थे और दिन-रात ईश्वर की याद और मज़हबी किताबों में डूबे रह कर फ़क़ीरों जैसी ज़िन्दगी बिता रहे थे यहीं उन्होंने आम का एक बड़ा बाग़ भी लगाया था। उनके इन्तक़ाल से कुछ ही दिन पहले उनके एक जवान लड़के की मौत भी पास की ही 'दाहा' नदी में डूब जाने से हो गई थी, जिसकी वजह से वह बड़े उदास रहने लगे थे।

जैसा कि राजेन्द्र बाबू ने लिखा है सचमुच मौलाना की मौत से हिन्दू-मुस्लिम एकता का एक सच्चा हामी इस दुनिया से चला गया। काश! मौलाना आज होते, तो इसमें तो शक नहीं कि ज़माने की हालत को देखते हुए उनको बड़ा सदमा पहुँचता, लेकिन आज जो इने गिने आदमी देश में एकता क़ायम करने का काम कर रहे हैं, उनके लिये वह एक बड़े सहारे की चीज़ बन जाते। और सच्ची बात तो यह है कि आज उनका नाम भी हमें एक नई रोशनी और नया उत्साह देने की ताक़त रखता है।

# मौ० मुहम्मद मियाँ मन्सूर अन्सारी

हज़रत मौलाना उबेदुल्ला साहब सिन्धी की तरह मौलाना मुहम्मद मियाँ साहब मन्सूर अन्सारी भी वलीउल्लाही संगठन के उस आन्दोलन से ताल्लुक रखते हैं, जो वलीउल्लाही जमात के छटे इमाम शैख़-उलहिन्द मौलाना महमूदुल हसन साहब ने सन् १९१४ की पिछली बड़ी लड़ाई के वक़्त शुरू किया था और सरकारी काग़ज़ों व रौलट कमेटी की रिपोर्ट में जिसको 'सिल्कन लेटर्स कान्सप्रेसी' यानी 'रेशमी ख़तों की साज़िश' के अनोखे और रंगीन नाम से पुकारा गया है। रौलट कमेटी की रिपोर्ट में इस तहरीक का हीरो मौलाना मुहम्मद मियाँ साहब को ही बताया गया है।

मौलाना मुहम्मद मियाँ साहब इस पुराने इनक़लाबी संगठन से अपने बचपन में ही परिचित हो चुके थे क्योंकि इस संगठन के पाँचवें इमाम मौलाना मुहम्मद क़ासिम साहब उनके सगे नाना थे। मशहूर है कि जब मौलाना मुहम्मद क़ासिम साहब ने अपनी बेटी यानी मौलाना मुहम्मद मियाँ साहब की माँ की शादी की थी तब उनके पास शादी में ख़र्च करने और दहेज में देने के लिये एक पैसा भी नहीं था। लेकिन इस बात का न तो उनको कुछ भी रंज था और न इससे उनको कोई दिक़्क़त ही महसूस हुई। दहेज के वक़्त उन्होंने अपनी कुछ किताबें अपनी प्यारी बेटी के हाथों में देते हुए कहा था कि मेरी दौलत तो यही है और मैं उम्मीद करता हूँ कि अगर तू इसकी क़द्र करेगी, तो तुझे सचमुच इस दौलत से ही सच्चा सुख और आराम नसीब होगा। बेटी ने भी बिना किसी हिचक के इस नायाब दौलत को लेकर आंखों से लगा लिया।

कहा जा सकता है कि अपने नाना और अपनी मां की यही भावनाएँ मौलाना मुहम्मद मियां साहब को भी विरासत में मिलीं जिसकी वजह से वह हमेशा दुनियावी लालचों से बचे रहे और देशभक्ति की राह में आने वाली तमाम मुसीबतें ख़ुशी ख़ुशी झेलते रहे।

मौलाना मुहम्मद मियां साहब के पिता मौ० अब्दुल्ला अंसारी अलीगढ़ यूनीवर्सिटी में मज़हबी तालीम के महकमे के नाज़िम थे और उस मशहूर ख़ानदान से ताल्लुक़ रखते थे, जिसका सिलसिला बादशाह औरंगज़ेब के ज़माने में होने वाले मशहूर सूफ़ी फ़क़ीर शाह अबुल मआली से मिलता है। कहा जाता है कि उस ज़माने में जब कि चारों तरफ़ तंगदिली का दौर दौरा था और इस्लाम को इस शक्ल में दुनिया के सामने पेश किया जा रहा था, जिससे दूसरे मज़हब के लोग उससे डरने लगे थे, तब शाह अबुल मआली ने अपने उपदेशों में प्रेम और मुहब्बत की धारा बहाकर इस्लाम की बहुत बड़ी सेवा की थी। इस तरह मौ० मुहम्मद मियां साहब को फ़िरक़ेवाराना तंगदिली के ख़िलाफ़ लड़ने और आपसी प्रेम का प्रचार करने के जज़्बात भी ख़ानदानी विरासत में मिले थे।

अपने मुल्क की ग़ुलामी और अंग्रेज़ी राज की बर्बरीयत से भी मौलाना मन्सूर अपने होश संभालने से पहिले ही वाक़िफ़ हो चुके थे। सन् १८५७ की मशहूर आज़ादी की लड़ाई में उनके नाना मौलाना क़ासिम साहब ने किस तरह हिस्सा लिया था और उसकी वजह से उनको और उनके ख़ानदान को कैसी कैसी तकलीफ़ें उठानी पड़ी थीं, सय्यद हसन असकारी साहब, जो ननिहाल के नाते मौलाना के एक क़रीबी बुज़ुर्ग होते थे और जिनकी बादशाह के दरबार में बहुत बड़ी इज़्ज़त थी, किस तरह अङ्गरेजों की गोलियों से शहीद हुए थे, इसकी कहानियां मौलाना को बचपन से ही सुनने को मिली थीं। इसके बाद जब होश संभाला तो आप देव-बन्द मदरसे में मौलाना महमूदुल हसन साहब के पास पढ़ने के लिये भेज दिये गये। रही सही कमी अब यहां पूरी हो गई और मज़हबी तलीम के साथ

साथ आपने वली उल्लाही तहरीक के उसूलों और उसके पिछले इतिहास को भी पढ़ा और समझा। इसके बाद आप मौलाना महमूदुलहसन की इन्क़लाबी कौंसिल के एक ख़ास मेम्बर बना लिये गये और मुल्क की आज़ादी के काम में पूरे ज़ोर शोर से हिस्सा लेने लगे।

सन् १९१४ में जब यूरोप में लड़ाई छिड़ी और मौलाना महमूदु-लहसन साहब, इस मौक़े से फ़ायदा उठाने के लिये हिन्दुस्तान की आज़ादी की लड़ाई में दूसरे मुल्को की मदद लेने के विचार से मक्के के लिये चले तो मौलाना मुहम्मद मियां साहब भी उनके साथ थे। यह यात्रा भी ऐसी अनोखी थी, जिसमें पग-पग पर गिरफ़्तारी का या किसी भी और मुसीबत के आजाने का ख़तरा था, पर देशभक्तों का यह दल किसी न किसी तरह हिन्दुस्तान से निकल ही गया। मक्का पहुँच कर मौलाना महमूदुलहसन साहब ने हजाज़ के गवर्नर ग़ालिब पाशा से मुलाक़ात की और हिन्दुस्तान की उत्तर पच्छिम की सरहद पर बसने वाले आज़ाद क़बीलों के नाम एक ख़त हासिल किया जिसका ज़िक्र रौलट कमेटी की रिपोर्ट में 'ग़ालिब नामा' के नाम से किया गया है। इस ख़त में आज़ाद क़बीलों को टर्की की हुकूमत की तरफ़ से यह यक़ीन दिलाया गया था कि अगर वह हिन्दुस्तान की अज़ादी की लड़ाई में मौलाना महमूदुल हसन साहब को मदद देंगे, तो टर्की की सरकार उनकी पूरी पूरी मदद करेगी। इस ख़त को हासिल करने के बाद मौलाना महमूदुल हसन साहब और उनके साथी मदीना पहुँचे, जिसमें कि वह मदीना के गवर्नर बसरी पाशा की मार्फ़त टर्की के लड़ाई के महकमे के वज़ीर अनवर पाशा से मुलाक़ात करके उनसे भी आज़ाद क़बीलों के लिये इसी तरह का ख़त हासिल कर लें। लेकिन मदीना पहुँचने पर कुछ ऐसी उलझनें पैदा हो गईं जिससे मालूम हुआ कि अभी अनवर पाशा से मुलाक़ात होने में काफ़ी दिन लग सकते हैं। दूसरी तरफ़ हालत यह थी कि मौलाना महमूदुल हसन साहब हिन्दुस्तान छोड़ने से बहुत पहले ही

मौलाना उबेदुल्ला साहब सिन्धी को काबुल रवाना कर चुके थे, जो वहाँ पर मौलाना के हुक्म का इन्तज़ार कर रहे थे। इसलिये फ़ैसला यह किया गया कि फ़िलहाल ग़ालिब पाशा के ख़त को ही किसी शख़्स के ज़रिये आज़ाद कबीलों में पहुँचा दिया जाय और फिर इसके बाद वही शख़्स काबुल पहुँच कर इस तमाम काम की रिपोर्ट मौलाना उबेदुल्ला साहब सिन्धी को दे दे, जिससे वह भी अपना काम शुरू कर दें।

यह फ़ैसला तो कर लिया गया, पर सवाल यह था कि यह काम सौंपा किसे जाय? बहुत देर सोचने विचारने के बाद आख़िर मौलाना महमूदुल हसन साहब ने फ़ैसला किया कि यह काम सिर्फ़ मौलाना मुहम्मद मियाँ साहब ही पूरा कर सकते हैं। उन्होंने मौलाना मुहम्मद मियाँ साहब से यह बात कही, और मौलाना ने ख़ुशी-ख़ुशी इस काम को पूरा करने का भार अपने सर ले लिया। इस काम में जो ख़तरे थे, उनसे मुहम्मद मियाँ साहब बेख़बर नहीं थे। वह जानते थे कि ख़ास हमारे ही क़ाफ़िले में कुछ अंग्रेज़ों के ख़ुफ़िया भी चल रहे हैं। जो हिन्दुस्तान का किनारा पड़ने से पहिले ही यह तमाम बातें हिन्दुस्तान की हुकूमत तक पहुँचा देंगे, फिर भी उन्होंने इसकी कोई परवाह नहीं की और उस ख़त को लेकर हिन्दुस्तान चल दिये।

मौलाना मुहम्मद मियाँ साहब 'ग़ालिब नामा' के साथ हिन्दुस्तान आये। अंग्रेज़ हुकूमत को भी इसकी ख़बर लग चुकी थी, इसलिये उनको फँसाने के लिये पूरा जाल बिछा लिया गया था। पर मौलाना ने ऐसी होशियारी से काम किया कि वह तमाम जाल बिछा का बिछा रह गया और मौलाना पूरे हिन्दुस्तान को पार करके सरहद के आज़ाद कबीलों में जा पहुँचे। इतना ही नहीं, वह रास्ते में 'ग़ालिब नामा' की बहुत सी कापियां भी बाँटते गये, जिससे मुल्क के लोग भी जान जायें कि हिन्दुस्तान की आज़ादी के लिये इस तरह की कोशिश की जा रही है और वह भी उस मौक़े के लिये अभी से तय्यारी शुरू कर दें।

'ग़ालिब नामा' लेकर मौलाना मुहम्मद मियाँ साहब हाजी फ़ज़ल वाहिद साहब ( हाजी तुरंगज़ई ) के पास पहुँचे। उनके सामने अपनी पूरी स्कीम रक्खी। हाजी फ़ज़ल वाहिद साहब इस स्कीम की बहुत सी बातें तो पहले से ही जानते थे, क्योंकि वह सन् १६०६ से ही देवबन्द मदरसे और मौलाना महमूदुल हसन साहब से अपना ताल्लुक़ क़ायम कर चुके थे। इसीलिये उन्होंने अंग्रेज़ों के साथ सरहद पर लड़ाई भी शुरू कर दी थी। 'ग़ालिब नामा' पाने के बाद हाजी फ़ज़ल वाहिद साहब ने और भी ज़ोर-शोर से अपनी फ़ौजों की भर्ती शुरू कर दी और इसमें उनको कामयाबी भी काफ़ी हुई। मौलाना मुहम्मद मियां साहब ने भी हाजी साहब के काम में बहुत बड़ी मदद की और कई लड़ाइयों में भी हिस्सा लिया, लेकिन इसके बाद वह काबुल के लिये चल दिये, क्योंकि काबुल के शाह अमीर हबीबुल्ला साहब के नाम भी उनके पास कुछ ख़त थे, जो उनको अमीर तक पहुँचाने थे और जिनके सहारे उनको उम्मीद थी कि काबुल की सरकार से वह काफ़ी मदद हासिल कर लेंगे।

मौलाना मुहम्मद मियां साहब ने काबुल पहुँच कर अमीर हबीबुल्ला साहब के पास ख़त पहुँचा दिये। वह और मौलाना उबेदुल्ला साहब साथ मिलकर काम करने लगे। मौलाना उबेदुल्ला ने कुछ ही दिन बाद, जब हिन्दुस्तान की पहली आरज़ी आज़ाद हुकूमत बनाई, तो मौलाना मुहम्मद मियां साहब ने उसमें बहुत बड़ा हिस्सा लिया। यह हुकूमत इसलिये बनाई गई थी, जिससे उसके ज़रिये टर्की, अफ़ग़ानिस्तान और जर्मनी से मदद लेकर हिन्दुस्तान में अंग्रेज़ी हुकूमत के ख़िलाफ़ लड़ाई शुरू कर दी जाँय। लेकिन अमीर हबीबुल्ला ने इस काम में कोई मदद नहीं की, इसलिये यह हुकूमत कोई ख़ास काम नहीं कर सकी। मौलाना मुहम्मद मियां साहब के दिल को इससे इतना धक्का लगा और अमीर हबीबुल्ला के वह इतने ज़्यादा ख़िलाफ़ हो गये, कि काबुल

का जो संगठन अमीर को तख़्त से उतारने की कोशिश कर रहा था उसमें उन्होंने खुले आम हिस्सा लेना शुरू कर दिया। नतीजा यह हुआ कि अमीर उनसे नाराज़ हो गये और जब अंग्रेज़ों ने मुहम्मद मियां साहब को गिरफ़्तार करने की इजाज़त अमीर से मांगी, तो अमीर ने उनको फ़ौरन इजाज़त दे दी। लेकिन अमीर हबीबुल्ला के छोटे भाई नसरुल्ला ख़ां साहब भी, जो अफ़ग़ानिस्तान के सबसे बड़े वज़ीर थे और अमीर की अंग्रेज़ परस्ती से तंग आकर उनको गद्दी से अलग कर देना चाहते थे, मौलाना मुहम्मद मियां साहब के हामी थे। इसका नतीजा यह हुआ कि इस हुक्म की ख़बर जैसे ही नसरुल्ला ख़ां को मिली उन्होंने अपनी मोटर के ज़रिये मौलाना मुहमम्मद मियां साहब को चुपचाप अफ़ग़ानिस्तान के उत्तरी पहाड़ों में पहुँचा दिया और अंग्रेज़ लाख सर पटकने पर भी मौलाना को गिरफ़्तार न कर सके।

अफ़ग़ानिस्तान के उत्तरी पहाड़ों से २३ दिन तक पैदल चलकर मौलाना बुख़ारा की हद में पहुँचे और एक दिन सरहदी पहरेदारों की आंखें बचाकर चुपचाप बुख़ारा में दाखिल हो गये। इसके कुछ ही दिन बाद जब अमीर हबीबुल्ला क़त्ल कर दिये गये और अमानुल्ला ख़ां काबुल के तख़्त पर बैठे, तब मौलाना मुहम्मद मियां साहब को काबुल की इस नई हुकूमत ने काबुल वापस बुला लिया। मौलाना ख़ुशी-ख़ुशी काबुल वापस आये और अफ़ग़ानिस्तान के राजकाज को चलाने में अमीर अमानुल्ला ख़ां की मदद करने लगे। लेकिन अपने देश की आज़ादी को वह नहीं भूल सके। इसका नतीजा यह हुआ कि कुछ ही दिनों में अमानुल्ला ख़ां ने हिन्दुस्तान पर हमला कर दिया। यह हमला मौलाना मुहम्मद मियां साहब और मौलाना उबेदुल्ला सिन्धी साहब की सलाह से किया गया था और सरहद का वह पूरा संगठन, जिसकी कमान हाजी तुरंगज़ई के हाथ में थी, इस वक़्त भी अफ़ग़ानिस्तान की पूरी मदद कर रहा था, लेकिन हवाई जहाज़ वग़ैरह न होने

क़ाबलियत हो। इसलिये उसने मौलना मुहम्मद मियाँ साहब को अफ़-ग़ान पार्लियामेन्ट का प्रेसीडेन्ट बनाना चाहा, लेकिन मुहम्मद मियाँ साहब जानते थे कि बचासक़ा की किसी भी तरह की मदद करना अंग्रेज़ों को मदद देना है। इसलिये उन्होंने प्रेसीडेन्ट बनना नामंज़ूर कर दिया। इसका नतीजा वही हुआ जो होना चाहिये था। यानी मौलाना गिरफ़्तार कर लिये गये और उनको फाँसी का हुक्म सुना दिया गया। एक बार फिर मौलाना के सर पर फाँसी का रस्सा झूलने लगा, लेकिन मौलाना ऐसी आसानी से फाँसी पर चढ़ जाने वाले जीव होते, तो अभी तक न जाने कितनी बार फांसी पर चढ़ चुके होते। उन्होंने एक बार फिर जुगुत लगाई, पहरेदारों को मिलाया और एक रात को चुपचाप क़ैदख़ाने की दीवाल लांघकर सरहदी इलाक़े की तरफ़ चल दिये, क्योंकि इस इलाक़े में आपकी पुरानी जान-पहिचान थी। छिपते-छिपाते आप 'बाजोड़' आ पहुँचे और वहां तब तक रहे, जब तक बचा-सक़ा की हुकूमत बिल्कुल ही ख़त्म न हो गई। इसके बाद आप फिर काबुल लौट गये।

इस तरह हमारे देश के इस देशभक्त सपूत ने अपने देश की सियासत के साथ-साथ दूसरे मुल्कों की सियासत में भी पूरा हिस्सा लिया।

न जाने कितने बड़े-बड़े इनक़लाब उन्होंने अपनी आंखों से देखे थे। सन् १९१५ में जब अरब में आज़ादी की लड़ाई चल रही थी, तब आप अरब में थे। इसके बाद जब अफ़ग़ानिस्तान में अंग्रेज़ों के असर और उनके अधिकारों के ख़िलाफ़ इनक़लाब उठा, तो उसमें आपने ख़ास हिस्सा लिया और मुसीबतें झेलीं। फिर जब बुख़ारा में क्रान्ति की आग सुलगी, तो आप वहीं थे। रूस की मशहूर लाल क्रान्ति के वक़्त आप ताशक़न्द, मास्को, बाकू, बातूम और तिफ़लस में घूम रहे थे। सन् १९२१-२२ में जब तुर्की से ख़िलाफ़त हटी और तुर्की का नया जन्म हुआ, तो आप वहां मौजूद थे।

इसी तरह न जाने कितने मुल्कों के क्रान्तिकारी नेताओं में से भी आपके ताल्लुक़ात थे। ट्रिपोलीटेनिया के मशहूर क्रान्तिकारी नेता शेख़ अहमद सन्नूसी, मिस्र की आज़ादी की लड़ाई के हीरो अल्लामा अब्दुल अज़ीज़ चख़ेशी और कुर्दस्तान की आज़ादी के लिये अपना सब कुछ दांव पर लगा देने वाले शेख़ महमूद सईद कुर्दी आपके ख़ास दोस्तों में से थे। इसी तरह हिन्दुस्तान के बीसियों जिलावतन देशभक्तों को आप से मदद मिलती रहती थी। मिसाल के लिये जब आप अंक़ोरा के दूतवास में थे, तब मौलाना अब्दुल हन्नान साहब अमृतसरी और मौलाना मौला बख़्श साहब नगीनवी महीनों तक आपके मेहमान रहे। असल बात तो यह है कि कोई भी ऐसा शख़्स, जो देशभक्त हो आपके लिये सगे भाई की तरह प्यारा हो जाता था।

सन् १९३७ में जब हिन्दुस्तान के सूबों में कांग्रेस सरकारें बनीं, तब आप से भी कहा गया कि आप ब्रिटिश हुकूमत से हिन्दुस्तान लौटने की इजाज़त मांगें, लेकिन आपको यह गवारा नहीं था कि जिस हुकूमत से आप ज़िन्दगी भर लड़ते रहे, उसी के सामने अब कुछ रियायतों के लिये हाथ फैलायें। न आप उस हिन्दुस्तान में लौटने के लिये ही तय्यार थे, जिसकी सरकारी इमारतों पर अब भी यूनीयन जैक लहरा रहा था। आपका कहना था कि मैं तो उसी हिन्दुस्तान में लौटूँगा, जो पूरी तरह आज़ाद होगा।

लेकिन मौलाना को यह दिन देखना नसीब न हो सका और १३ जनवरी सन् १९४६ को अपने वतन की आज़ादी की माला जपते-जपते वह हमेशा के लिये इस दुनिया से चल दिये।

कौन जानता है कि जब उनकी पलकें हमेशा के लिये मुँद रही होंगी, तब उनके दिल में क्या-क्या अरमान उठ रहे थे। शायद एक बार तो उनको अपने वतन की याद आई ही होगी। जिसके लिये उन्होंने

अपना सब कुछ दांव पर लगा दिया था और जिससे वह पिछले तीस साल से जुदा रहे थे। पर इसके साथ ही उनके सामने हिन्दुस्तान में चल रहे हिन्दू-मुसलमानों के वहशियाना झगड़ों की तस्वीर भी तो घूमी होगी और तब शायद उनको इससे तसल्ली ही मिली होगी कि आज वह हिन्दुस्तान में नहीं हैं और अपने इस आख़िरी वक़्त में, कम से कम उनके कानों में, किसी मुसलमान के हाथों मारे जाने वाले किसी हिन्दू या किसी हिन्दू के हाथों मारे जाने वाले मुसलमान की बेवा की चीख़ तो नहीं आ रही है।

मौलाना का नाम हिन्दुस्तान की आज़ादी की लड़ाई के इतिहास में हमेशा अमर रहेगा।

—:०:—

# ब्रिगेडियर मुहम्मद उस्मान

( भाई अक्षय कुमार जैन )

[ ब्रिगेडियर मुहम्मद उस्मान यों तो अपनी नौकरी का फ़र्ज़ अदा करते हुए मारे गये थे, लेकिन फ़िरक़ापरस्ती के उस तूफ़ान के ज़माने में यह कौन नहीं जानता कि फ़ौज और पुलिस के दिमाग़ भी बड़े ज़हरीले हो चले थे। बल्कि कहा तो यह जाता है कि दोनों तरफ़ अगर पुलिस और फ़ौज ईमानदारी से अपना फ़र्ज़ अदा करती रहती और मारकाट में ख़ुद हिस्सा न लेती, तो जितनी ख़ून ख़राबी भी हुई, उसका दसवाँ हिस्सा भी नहीं हुई होती। ऐसे ज़माने में भी ब्रिगेडियर मुहम्मद उस्मान साहब किस तरह सफ़ाई के साथ अपना फ़र्ज़ अदा करते रहे और उसी में शहीद हो गये, इसका हाल पाठक इस लेख में पढ़ेंगे।

इस लेख के लेखक भाई अक्षय कुमार जैन जिस अख़बार के आफ़िस में काम करते हैं, उसी में ब्रिगेडियर उस्मान के भाई मुहम्मद सुबहान साहब भी काम करते थे, लेहाज़ा ब्रिगेडियर मुहम्मद उस्मान के बारे में लेखक ने जो बातें दी हैं वह गहरी छान बीन के बाद ही दी हैं। हिन्दुस्तान हमेशा इस शहीद पर नाज़ करता रहेगा।

—सम्पादक ]

भारत ने इस ज़माने में जो इने गिने बहादुर नौजवान पैदा किये हैं, उनमें ब्रिगेडियर उस्मान का स्थान बहुत ऊँचा है। नौशहरा के इस बहादुर विजयी का नाम आज़ाद हिन्दुस्तान की तवारीख़ के आकाश में हमेशा चन्द्रमा की तरह चमकता रहेगा।

मुहम्मद उस्मान का जन्म यू० पी० के आज़मगढ़ ज़िले में बीबी-पुर गाँव में हुआ था। बनारस में हरिश्चन्द्र हाई स्कूल से उन्होंने इन्ट्रेन्स पास किया और इलाहाबाद यूनीवर्सिटी से बी० ए० का इम्तहान दिया। अपनी पढ़ाई के ज़माने में ही उस्मान साहब को खेल कूद में भारी दिलचस्पी थी और वह यूनीवर्सिटी के स्पोर्ट चैम्पियन थे। उसी ज़माने से वह राजनीति में भी दिलचस्पी रखते थे। और इलाहाबाद यूनीवर्सिटी यूनियन के वह बहुत दिनों तक सेक्रेटरी भी रहे थे।

इलाहाबाद यूनीवर्सिटी से बी० ए० करने के बाद वह देहरादून के फ़ौजी कालेज में जाना चाहते थे, लेकिन उस कालेज में ज़्यादातर ऐसे लोग ही लिये जाते थे, जो किसी राजा नवाब या बड़े फ़ौजी अफ़सर के ख़ानदान के हों। पर उस्मान साहब से यह पाबन्दी हटा ली गई और उनको कालेज में दाख़िल कर लिया गया। इस कालेज के विद्यार्थियों के लिये यह ज़रूरी सा ही था कि वह अपने अँग्रेज़ अफ़सरों जैसी पोशाक में रहें, उनका जैसा ही खानपान (जिसमें शराब ख़ासी मात्रा में होती थी), अपना भी रक्खें, लेकिन उस्मान साहब ने यह बातें नहीं अपनाईं। वह उस फ़ौजी कालेज में भी मामूली वक़्त में खद्दर का कुर्ता, पाजामा पहिनते थे. मुसलमान होकर भी वह गोश्त नहीं खाते थे, क्योंकि गोश्त खाना शरीअत के लिहाज़ से हर एक मुसलमान के लिए ज़रूरी नहीं है। हाँ, अगर वह चाहे, तो खा सकता है। एक सच्चे मुसलमान और साथ ही नेक इन्सान होने की वजह से शराब तो उन्होंने कभी चखी तक नहीं। देहरादून के फ़ौजी कालेज में पढ़ने वाले किसी विद्यार्थी के लिये उस ज़माने में शराब से बचा रहना कितने ऊँचे कैरेक्टर की मिसाल

थी, इसे वही लोग समझ सकते हैं, जो उस कालेज की उस ज़माने की हालत से वाक़िफ़ हैं। लेकिन उस्मान साहब की नेक चलनी की यहीं तक हद नहीं थी, वे तो सिगरेट भी नहीं पीते थे और नियम से चर्खा चलाते थे। अपने इन नियमों का पालन उन्होंने बाद की ज़िन्दगी में भी किया, यहाँ तक कि मोर्चे पर भी उनके ख़ेमे में गान्धीजी की तस्वीर और चरख़ देखने में आता था।

अगस्त १६३३ में उस्मान साहब को कमीशन मिला और सन् १६३३ में वह पहली बार लड़ाई के मैदान में पहुँचे। सन् १६४१ तक वह हिन्दुस्तान के मुख़्तलिफ़ हिस्सों में अपनी रेजिमैन्ट के साथ रहे, बाद को कुछ व.क़ के लिये पेशावर में कप्तान भी रहे। क्वेटा के स्टाफ़ कालेज के इम्तहान देने के बाद आप इराक़ और बर्मा भेजे गये। बर्मा में कुछ दिनों तक उन्होंने एक रेजिमेंट की कमान भी की थी।

इसके बाद हवाई सेना में काम करने की ग़रज से वह पैराशूट से उतरने की ट्रेनिंग लेने के लिये इंगलैंड गये और वहाँ उनको इस ट्रेनिंग में काफ़ी अच्छी कामयाबी हासिल हुई।

## उस्मान में इन्सानियत का जज़्बा

इस तरह ब्रि० उस्मान एक ऐसी ताज़गी और ताक़त का ख़ज़ाना थे कि वह बिलकुल मुख़तालिफ़ माहौल में भी अपने उसूलों और आदर्शों पर कामयाबी के साथ चल लेते थे। यही वजह थी कि फ़ौजी ज़िन्दगी अपनाने के बाद भी उनका दिल एक शायर के दिल की तरह चमकीला और दया, ममता से हमेशा भरा पूरा रहा। उनके मिज़ाज के इस पहलू पर रोशनी डालने के लिये सिर्फ़ दो मिसालें काफ़ी होंगी, जिसमें से पहिली मद्रास सूबे के एक गाँव की है। एक दिन अपनी फ़ौजी जीप में उस्मान साहब एक गाँव से होकर गुज़रे। यकायक उन्होंने देखा

कि एक औरत एक कुएँ की मेढ़ पर बैठी बिलख रही है। थोड़े से आदमियों की एक भीड़ भी वहीं जमा थी, जिनमें से सभी चेहरों पर बेबसी और दुख की झलक थी। जीप रोककर उस्मान साहब ने वजह पूछी, तो मालूम हुआ कि इस औरत का बच्चा कुएँ में गिर गया है। सुनते ही उस्मान साहब बिजली जैसी तेज़ी से एक रस्सी के सहारे कुएँ में उतर गये और उस औरत के बच्चे को निकालकर उसकी माँ के हवाले कर दिया। अपने बच्चे को फिर अपनी गोदी में पाकर माँ के चेहरे पर जो ख़ुशी थी, उस्मान साहब के लिये उनकी मेहनत का वही सबसे बड़ा एवज़ था।

इसी तरह की दूसरी मिसाल रानीखेत छावनी की है। एक दिन शाम को उस्मान साहब खाने पर बैठे ही थे कि एक देहाती ने उनको रोते हुए बताया कि पास के गाँव में एक चीता कई आदमियों की जान ले चुका है। उस्मान साहब सब कुछ बर्दाश्त कर सकते थे पर इन्सान की आँखों में आँसू वह बर्दाश्त नहीं कर सकते थे। उन्होंने ख़ाना वैसे ही छोड़ दिया और जब तक चीते को न मार लाये दुबारा खाने पर न बैठे।

रानीखेत का वह गाँव आज भी उनको बड़ी इ.ज़्ज़त के साथ याद करता है।

## फ़िरक़ापरस्ती के दुश्मन

भला मानव समाज का इतना बड़ा और सच्चा सेवक फ़िरक़ापरस्ती की गन्दगी में सन ही कैसे सकता था! इसीलिये जब पञ्जाब में फ़िरक़ा-परस्ती का शैतानी नाच शुरू हुआ और 'हिन्दू सभ्यता' और 'इस्लामी तमद्दुन' को बचाने के लिये धरम और दीन के दीवाने बच्चों और बूढ़ों का क़त्ल व औरतों की बेइ.ज़्ज़ती करने लगे और जब हिन्दू के दिल से मुसलमान का और मुसलमान के दिल से हिन्दू का यक़ीन बिलकुल ही उठ चुका था और सबसे बड़ी बात यह थी कि आम जनता में आमतौर

र यह शिकायत थी कि फौज में भी फ़िरक़ापरस्ती बुरी तरह घर कर गई है, उस वक़्त ब्रिगेडियर उस्मान की यह ख़ुद एतमादी यानी आत्म-विश्वास तो देखिये कि उन्होंने फ़ौजी बँटवारे के वक़्त अपने मुसलमान साथियों में इस बात का पूरी तरह प्रचार किया कि वह हिन्दुस्तान की फ़ौज में ही रहने का फैसला करें। अपने साथियों में भी उस्मान साहब का कितना असर था, वह इसीसे साबित है कि क़रीब ढाई सौ मुसलमान अफ़सरों ने, उस ज़माने में, जब कि हर एक खाता-पीता मुसलमान, सिवा कुछ नेशनलिस्टों के, पहिली गाड़ी से पाकिस्तान भाग जाने के फ़िराक़ में था, हिन्दुस्तान की फ़ौज में रहने के फ़ार्म भर दिये। और हिन्दुस्तान की सरकार ने भी उस्मान साहब की सच्चाई को कितनी आसानी से पहिचान लिया था, इसकी मिसाल यह है कि सन् १९४७ में पच्छिमी पञ्जाब में घिरे हुए हिन्दू और सिक्खों को निकालने का काम उसने ब्रिगेडियर उस्मान के ही सिपुर्द किया। अपने इस काम को उस्मान साहब ने कितनी ख़ूबी के साथ पूरा किया, यह तो उस हल्क़े में हिन्दू सिक्खों से पूछिये, जिन हल्क़ों में उस्मान साहब रहे। ख़ास तौर पर वह मुल्तान, मुज़फ़्फ़रगढ़, डेरागाज़ी ख़ाँ, और झंग में रहे और वे जब तक वहाँ रहे, तब तक वहाँ एक हिन्दू या सिक्ख का बाल भी बाँका न हो सका। मुल्तान के पचास हज़ार हिन्दू सिक्खों की इस कट्टर मुसलमान ने जिस तरह हिफ़ाज़त की उसे देखते हुए यह कहा जा सकता है कि उन्होंने हमेशा और कड़े से कड़े वक़्तों में भी मुसलमानों के बजाय हिन्दू सिक्खों' को बचाने में ज़्यादा दिलचस्पी ली।

उनके इस काम को देख कर ही उनको गुरुदास पुर ज़िले के शरणार्थियों को निकालने का काम सौंपा गया था। और वहाँ अमन क़ायम करने में उहोंने जो फुर्ती दिखाई, उसकी वजह से उनका नाम हिन्दुस्तान की फ़ौजी दुनिया में रोशन होगया।

इसके बाद उनको जम्मू मोर्चे का कमान्डर बना कर काश्मीर भेजा

गया। उस वक्त काश्मीर की हालत बेहद डांवा डोल थी। एक तरफ़ तो आज़ाद काश्मीर सरकार और पाकिस्तान सरकार इस बात का प्रचार कर रही थी कि हिन्दुस्तानी फ़ौज काश्मीर में घुस आई तो काश्मीर के एक मुसलमान को भी ज़िन्दा नहीं छोड़ेगी और दूसरी तरफ़ काश्मीर के कुछ सर फिरे हिन्दू, जिनमें से कुछ तो पाकिस्तानी के साथ मिले हुए थे, जम्मू और उसके आस पास वहाँ की मुसलमान जनता के ख़िलाफ़ करवाई करके पाकिस्तान ने इस प्रचार को सच साबित कर रहे थे। इसके अलावा हिन्दुस्तान के हिन्दू फ़िरक़ापरस्त संगठन भी काश्मीर के हमले को 'एक हिन्दू रियासत पर एक मुसलिम देश का हमला' की शक्ल देना चाहते थे, जिसका नतीजा यह था कि काश्मीर की ८० फ़सीदी से ज़्यादा जनता, जो मुसलमान है, पाकिस्तान और हमलावरों के साथ हमदर्दी रखने लगती। लेकिन ब्रिगेडियर उस्मान उस मोर्चे पर पहुँचते ही न तो पाकिस्तानी प्रचार चला और न हिन्दू फ़िरक़ापरस्तों का मतलब पूरा हो सका। अब यह लड़ाई काश्मीरी जनता की पाकिस्तानी फ़ासिस्ट शाही के ख़िलाफ़ अपनी आजादी की लड़ाई बन गई, जिसकी कमान एक नेकनाम बहादुर मुसलमान के हाथों में थी। ब्रिगेडियर उस्मान के पहुँचते पहुँचते जिस तरह नौशहरा पर क़ब्ज़ा कर लिया, उसकी कहानी हिन्दुस्तानी फ़ौज के शानदार करनामों के इतिहास में हमेशा अमर रहेगी। हमलावर क़बायली और पाकिस्तानी फौजों के दिल में तो उस्मान के नाम की इस तरह दहशत बैठ गई थी कि हर तीसरे दिन उस्मान साहब के मारे जाने का ऐलान आज़ाद काश्मीर रेडियो से दिया जाता था, जिससे कि हमलावरों में हिम्मत बनी रहे। ब्रिगेडियर उस्मान को ज़िन्दा या मरा हुआ पकड़ लाने के लिये ५० हजार रुपये के इनाम का एलान भी हमलावरों भी तरफ़ से किया गया था।

लेकिन हिन्दुस्तान की बदक़िस्मती से ५ जुलाई १९४८ को आल-इंडिया रेडियोको यह ख़बर भी सुनानी पड़ी कि हिन्दुस्तान का यह बहा-

दुर सपूत, फ़िरक़ापरस्ती का यह सबसे बड़ा दुश्मन और इन्सानियत का यह नेकनाम सेवक हिन्दुस्तानी फ़ौज की कमान करता हुआ काश्मीर के मोर्चे पर अपनी आख़िरी नींद सो गया। ब्रिगेडियर उस्मान की यह मौत एक ऐसी मौत थी, जिसके लिये किसी भी बहादुर देशभक्त के दिल में डाह पैदा हो सकती है। उनके कफ़न दफ़न की रस्म भी हिन्दुस्तान की सरकार ने जिस शानोशौकत से पूरी की, वह इस बहादुर की एक सच्ची इज़्ज़त थी। उस दिन सचमुच पूरा हिन्दुस्तान ख़ून के आँसू रोया था और उसने यह महसूस किया था कि आज उसका एक बहादुर रक्षक मारा गया।

लेकिन कहते शर्म आती है कि हिन्दुस्तान के इने गिने कुछ लोगों, ऐसे लोगों ने, जिनके दिल फ़िरक़ापरस्ती के ज़हर से भरे हुए हैं, उस्मान साहब की शाहादत से पैदा होने वाली अच्छी फ़िज़ा से दहशत खाकर इस बारे में एक गन्दा प्रचार करना शुरु किया था। वह प्रचार ऐसा बेहूदा था कि मुझे उसे लिखना भी गवारा नहीं है। ख़ुशी की बात है कि हिन्दुस्तान की जनता चुपचाप होने वाले उस ज़हरीले प्रचार के बहकावे में नहीं आई।

ब्रिगोडियरउस्मान दुनियावी तरीक़े पर तो मर गये, लेकिन व ज़िन्द हैं और सदियों तक ज़िन्दा रहेंगे। अपने देश के लिये शहीद हो जाना ह उनकी सबसे बड़ी ख़ाहिश थी और वह ख़ाहिश पूरी हो गई। परमात्मा अपने प्यारों की ख़ाहिश का कितना ख़याल रखता है, उस्मान साहब की शहादत से यह बात अच्छी तरह रोशन हो जाती है।

---